श्री जानकीवल्लभो विजयते

श्रीरामतत्त्वप्रकाशः

प्रणेता –

श्रीगालवाश्रम श्रीपयोहारी पीठाधीश
मधुररसाचार्य श्री १००८ श्री स्वामी
श्रीमधुराचार्य जी महाराज

टीकाकार –

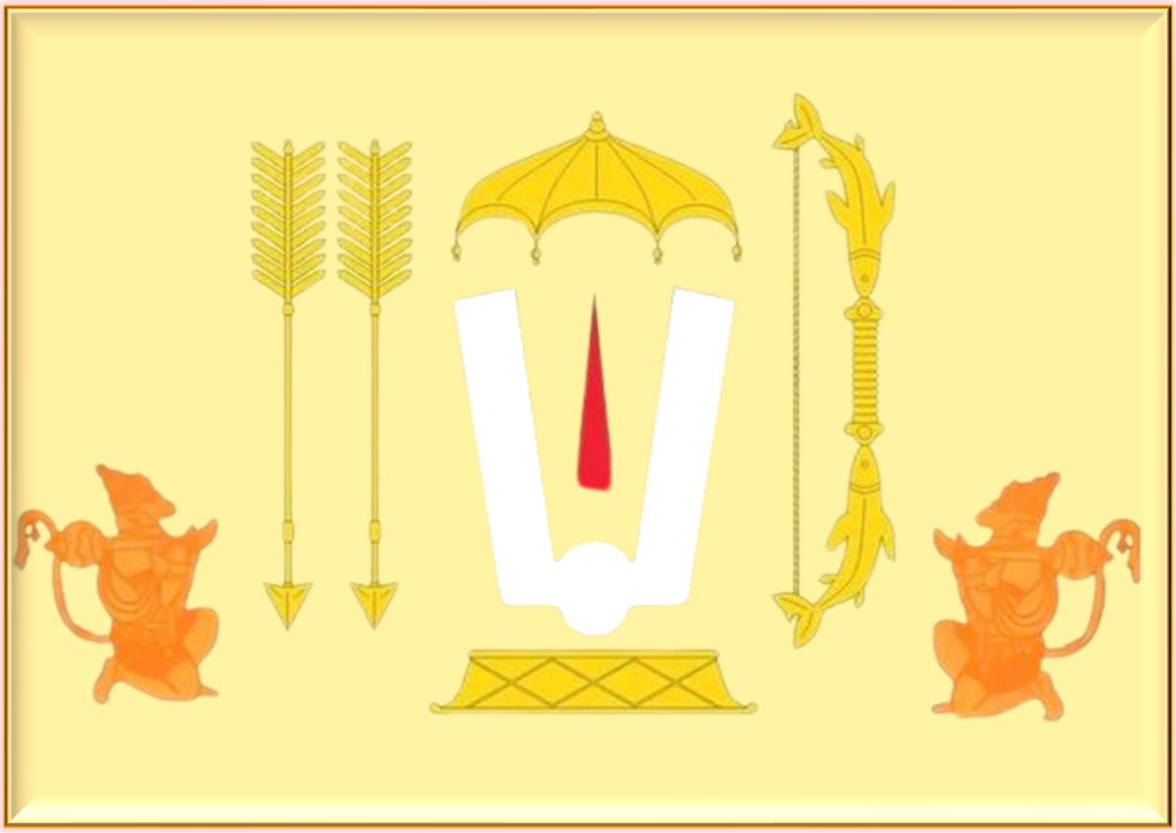
श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत सकलभूषण
जगदुद्धारक जगद्गुरु
श्रीरामवल्लभाशरणचरणाश्रित प०
श्रीअखिलेश्वरदास जी महाराज

श्री हनुमत् निवास निवासी श्रीरामकिशोरशरण
कृपाकटाक्षाश्रित रामप्रियाशरणप्रकाशितः

सीताराम सीताराम सीताराम सीताराम

विषयानुक्रमणिका

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः श्रीमतेरामानन्दाचार्याय नमः



भूमिका -

यत्कृपा लवलेशेन सीतारामङ्‌घ्रि सेवनम् ।
लभ्यते श्रीचन्द्रकला चारुशीला पदौ नुमः ॥

प्रिय सज्जन पाठक गण !

पदार्थ विवेचक महर्षियों ने प्रमाण और प्रमेय दो प्रकार के पदार्थ माने हैं एवं प्रत्यक्ष अनुमान-उपमान और आगम ये चार प्रमाण माने हैं । प्रमाणों के बिना प्रमेय की सिद्धि हो ही नहीं सकती, अतः उनका ज्ञान भी परमावश्यक है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जो वस्तु यथार्थ रूप में नहीं जानी जा सकती उसको भलीभाँति आगम प्रमाण ही समझाता है, अतः 'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणात्' प्रमेय की सिद्धिप्रमाण से ही होती है, ऐसा महर्षियों ने निर्विवाद सिद्धान्त माना है ।

प्रस्तुत पुस्तक में निखिलशास्त्रपारङ्गत-पदवाक्यार्थ प्रवीण सुन्दरमणिसन्दर्भादि ग्रन्थप्रणेता - मधुररसाचार्य स्वामि श्रीमधुराचार्यजी महाराज ने प्रत्यक्षादि प्रमाणाऽगोचर त्रिकालाऽबाधित सत्ताविशिष्ट कौशल्याहृदयशुक्तिसम्भूत परात्परपूर्णब्रह्म श्रीरामरत्न की परीक्षा आगम प्रमाणरूपी महाशाण द्वारा करके उस महार्घ्य रत्न का हम सबको ज्ञान कराया है।

इस 'श्रीरामतत्त्वप्रकाश' ग्रन्थरत्न में तेरह उल्लासों द्वारा श्रीरामरहस्य के अद्‌भुत तत्त्वों का विवेचन बड़ी सावधानी से गम्भीर प्रसन्न भाषा में किया है। इस 'प्रकार की अद्‌भुत अर्थ कुशलता अन्यत्र बहुत कम देखने में आती है।

यह रहस्यग्रन्थ है, इसमें कितनी ऐसी बातें आती हैं जो आजतक कहीं देखी सुनी भी न होंगी, इसलिये परमश्रद्धालु भक्त एवं रसराजैकनिष्ठ सन्त ही इन बातों का यथार्थ मर्म जान सकते हैं। दूसरे विषय बिषूदित पामरजन तो उल्टा ही समझ लेगें। 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' और 'कल्पभेद हरिचरित सुहाये। नाना भाँति मुनीशन गाये' सिद्धान्त मानकर ग्रन्थकार ने जो परस्पर विरुद्ध नाना वाक्यों की अर्थसङ्गति लगाई है वह अप्रतिम है। साथ ही अपने इष्ट की उत्कृष्टता वर्णन करते समय उनके अन्य अवतार विग्रहों की कहीं लेशमात्र भी अवहेलना न हो जाय इस बात पर पूर्ण ध्यान देकर श्रीसम्प्रदाय श्रीरामानन्द सम्प्रदाय की उदारता श्रद्धाशीलता एवं अनन्यनिष्ठा का अनुपम आदर्श उपस्थित किया है। यह बात ग्रन्थावलोकन से ही सुजन सन्त भलीभाँति जान सकते हैं।

इस सद्ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण सुकृत स्वनामधन्य परमरसिक महात्मा श्रीरामकिशोरशरणजी महाराज का ही है, जिनकी उत्कृष्ट प्रेरणा से यह ग्रन्थ लिखा गया है, मैं तो बड़ा आलसी हूँ, आज का कल किया करता हूँ, इन्हीं महापुरुष ने अपनी अहैतुकी कृपा से ही इसकी टीका लिखवा ली है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

साथ ही श्रीरामानन्द-आश्रम जनकपुरधामनिवासी श्रीअवधकिशोरदासजी श्रीवैष्णव को भी मैं शुभ आशीर्वाद प्रदान करता हूँ, जिन्होंने इसके प्रकाशनादि में पूर्ण सहयोग देकर मुझे बड़ी सहायता पहुँचाई है। ये हमारे सम्प्रदाय के एक सुन्दर साहित्य-सेवक कुशल-कथाकार और प्रचारक हैं, इस ग्रन्थ में इन्होंने उपयोगी टिप्पणियाँ भी लिखी हैं।

अन्त में मैं शीघ्रतापूर्वक छपाई की उतावली से जो अनेकों अशुद्धियाँ रह गयी हैं उसके लिये विद्वज्जनों से क्षमा प्रार्थना करता हूँ, अशुद्धिपत्र तो इसलिये नहीं लगाया कि तदनुकूल सुधारकर पढ़ने का श्रम तो प्रायः कोई नहीं करते हैं।

ऐसे-ऐसे अनेकों ग्रन्थरत्न दीमकों की मिट्टी में मिल रहे हैं, कितने सरयू में प्रवाहित कर दिये जाते हैं, अतः उचित है कि किसी के पास कोई ग्रन्थ हो तो उसे विचारशील सन्त सुजनों को सौंपकर उसकी रक्षा एवं प्रचार का प्रयत्न करें। यदि महात्मा श्रीरामकिशोरशरणजी जैसे सम्प्रदाय के अन्य उत्साही सन्त सद्‌गृहस्थ उनके प्रकाशन एवं प्रचार की ओर ध्यान दें तो संसार पुनः श्रीसीतारामजी की भक्ति का मधुररस चाखकर कृतार्थ हो जाय।

श्रीवैष्णवानाममनुचरः-

प० अखिलेश्वरदास

श्रीजानकीरमणो विजयते **श्रीमते हनुमते नमः**

श्रीमते परमाचार्यवर्य्याय आनन्दभाष्यकाराय श्री रामानन्दाचार्य्याय नमो नमः

श्री राम तत्त्व प्रकाश

प्रथमोल्लासः -

तत्रादौ - अवतारादीनामंशांशित्वनिरूपणम्

शिष्टाचार से प्राप्त श्रुतिबोधित कर्तव्यताक वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण पूर्वक श्रीरामतत्वप्रकाश नामक ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं कि -

सीताराम पदद्वन्दं गुरुं नत्वा करोम्यहम् ॥
श्री रामभक्त तोषार्थं रामतत्व प्रकाशनम् ॥१॥

श्रीसीतारामजी के दोनों श्री चरणकमलों को और श्रीगुरुदेव जी को नमस्कार कर श्रीरामजी के भक्तों के सन्तोषार्थ श्रीराम-तत्व प्रकाश नामक ग्रन्थ को करता हूँ -

अथ 'सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः' इत्यादि महावाराहपुराणस्थ वाक्यैः, कृष्ण सन्दर्भ धृतमाध्वग्रन्थस्थ चतुर्वेदशिखाश्रुतौ दशावताराणां वासुदेवादीनांच पूर्णत्वाजरत्वानन्दत्वकथनेन च सर्वेऽप्यवताराः पूर्णाः सर्वगुणयुक्तास्तेषु तारतम्यं केनाप्यंशेन नास्ति ॥

सब अवतार सब गुणों से पूर्ण हैं और सब दोषों से रहित हैं,' इत्यादि महावाराहपुराण में स्थित अनेक वाक्यों से और माध्व-साम्प्रदायिक श्रीकृष्णसन्दर्भ में उद्‌धृत चारों वेदों की श्रुति में दशो अवतारों और वासुदेवादिकों के पूर्णत्व, अजरत्व (वृद्ध न होना) आनन्दत्व आदि कहने से सभी अवतार पूर्ण और सब गुणों से युक्त हैं, उनमें तारतम्य (छुटाई-बड़ाई) किसी भी अंश में नहीं है ॥

यदि सर्वेषामंशित्वं न स्वीक्रियते, तदाग्रे प्रतिपादयिष्यमाणं श्रीरामस्य पूर्णत्वं, सन्दर्भादौ श्रीकृष्णस्य पूर्णत्वं प्रतिपादितं तद्बाध्येत । तथा भविष्योत्तरे-श्रवणद्वादशी माहात्म्ये-वामनस्य सर्वावतारित्वमुक्तः तद्बाध्येत ॥

यदि सब अवतारों में अंशित्व नहीं स्वीकार करेंगे तो आगे प्रतिपादन किया जानेवाला श्रीराम जी का पूर्णत्व और सन्दर्भ आदि में श्रीकृष्ण भगवान् का जो पूर्णत्व प्रतिपादन किया गया है वह

बाधित हो जायगा । तथा भविष्योत्तर पुराणान्तर्गत श्रवण द्वादशी माहात्म्य में जो श्रीवामन जी का सर्वावतारित्व प्रतिपादित है उसका बाध हो जायगा -

तच्च यथा 'पूजामंत्रान् प्रवक्ष्यामि ताञ्छृणुष्व युधिष्ठिर । पादौ मत्स्याय च नमो नमः कूर्माय जानुनी ॥ वाराहाय नमो गुह्यं नृसिंहायेति नाभितः ॥ उरस्तु वामनायेति भुजौ रामाय वै नमः ॥३॥ मुखं रामाय च नमः कृष्णाय च नमः शिरः ॥ मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः ॥४॥ रामो रामश्च कृष्णश्च ह्यर्चयामि नमो नमः ॥ इति ॥

वह सर्वावतारित्व श्रीवामन जी का इस प्रकार से है कि 'हे युधिष्ठिर मैं पूजा के मंत्रों को कहता हूँ उनको सुनो। दोनों पग पर मत्स्य भगवान को नमस्कार, जानु पर कूर्म के लिये नमस्कार, गुह्य स्थान पर वाराह को नमस्कार, नाभि पर से नृसिंह को नमस्कार, छाती पर वामन के लिये, भुजों पर श्रीराम जी के लिये नमस्कार, मुखपर श्रीदाशरथी राम जी के लिये नमस्कार, शिर पर श्रीकृष्ण जी के लिये नमस्कार । मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण का मैं अर्चन करता हूँ, बारम्बार नमस्कार है ॥

एवं नृसिंहस्यागमेषु पूर्वमङ्गेषु दशावतारानुक्त्वा ध्यानमुक्तम् - सहस्त्र चन्द्रप्रतिमो दयालुर्लक्ष्मी मुखालोकनलोलनेत्रः ॥ दशावतारान्तरितः परीतो नृकेशरी मङ्गलमातनोतु ॥ इति ॥

एवं श्रीनृसिंह जी के आगमों में पहले अङ्गों में दश अवतारों को कहकर ध्यान कहा गया है कि सहस्र चन्द्रमा के समान शीतल, दयालु, श्रीलक्ष्मी जी के मुख अवलोकन करने के लिये चञ्चलनेत्र, दशों अवतारों से परिवेष्टित श्रीनृसिंह जी चारों तरफ से हमारे मङ्गल का विस्तार करें, इति ।

नृसिंहपुराणे 'वसुदेवाच्च देवक्यामवतीर्य यदोः कुले ॥ सितकृष्णेच मत्केशौ कंसाद्यान् घातयिष्यतः॥ इत्यनेनावतारित्वमुक्तम् । नारदपञ्चरात्रे पाद्मसंहितायां द्वितीयेऽध्याये वासुदेवादि चतुर्व्यहादवतारोत्पत्तिरुक्तास्ति - मत्स्यः वराहश्च वासुदेवादजायत । नृसिंहो वामनो रामो जामदग्र्योऽप्यजायत ॥ सङ्कर्षणात्तथाजज्ञे प्रद्युमनाद्राघवो बली । अनिरुद्धादभूत्कृष्णः कल्कीति दश मूर्तयः ॥

नृसिंह पुराण में लिखा है कि 'वसुदेव जी से देवकी जी के गर्भ से यदुकुल में अवतीर्ण होकर हमारे श्वेत और काले दो केश कंसादिकों का नाश करेंगे। इस वाक्य से नृसिंह जी को अवतारी कहा गया है। नारद पंचरात्र की पाद्मसंहिता के द्वितीयाध्याय में वासुदेवादि चतुर्व्यूह से दशों अवतारों की उत्पत्ति कही गई है कि 'मत्स्य, कूर्म, वराह अवतार वासुदेव से हुए । नृसिंह, वामन, परशुराम सङ्कर्षण जी से हुए । श्री दाशरथी राम जी और बलराम प्रद्युम्न से हुए । कृष्ण और कल्की अनिरुद्ध से हुए, इस प्रकार दश मूर्ति हुऐ ।

अत्र श्रीकृष्णसहितानामेव दश मूर्तित्वमभूत् क्रमशस्तेभ्यश्चतुर्भ्यः 'पुरुषोत्तमोऽधोक्षजो नृसिंहश्चतुर्थश्चाच्युतो मतः ॥' श्रीसंहितायामेकादश पटले विशाखयूपस्यावताराणां गणने

'हरिः कृष्णस्तथैव च, इत्युक्तम् । एवं पुरुषावतारस्य 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्, इत्यादिना पुरुषस्यावतारित्वमुक्तम् ॥

यहाँ पर श्रीकृष्णजी के सहित ही उनको दश मूर्ति होना कहा गया है और क्रम से उन चारों से पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नृसिंह और चौथे अच्युत बताये गये हैं। श्री संहिता के ग्यारहवें पटल में विशाखयूप के अवतारों की गणना में 'हरि और कृष्ण भी' गिने गये हैं। इसी प्रकार पुरुषावतार को भी 'यह नाना अवतारों के कारण और अव्यय बीज हैं' इस कथन से पुरुष को श्रीकृष्ण का भी अवतारी कहा गया है।

श्रीरामस्यापि पाद्मोत्तरखण्डे दशावतारा आवरणत्वेनोक्ताः सन्ति, तदग्रे विस्तरेण दर्शयिष्यते । एवमन्येषामप्यवताराणां पूर्णत्वबोधकानि पुराणागमसंहितादौ प्रसिद्धतराणि वाक्यानि सन्ति । तस्मात् सर्वेषामप्यवताराणामंशित्वमङ्गीकर्तव्यम् । अंशत्वबोधकवाक्यानामविरोधायांशत्वमप्यङ्गीकर्तव्यम् । तस्मात्तेषामंशित्वमंशत्वमुभयमध्यस्ति, सर्वेषामवताराणामंशरूपाश्च सर्वेऽप्यवताराः सन्ति । अतस्तेऽवतारास्तेषां तेषां स्वांशानामंशिनोंऽशिनांच तेतेंऽशाः, नाम्नां धाम्नां परिकराणांचांशित्वमस्ति, एवंलीलानामप्यस्ति ।

श्री रामजी के भी पाद्मोत्तरखण्ड में दशों अवतार आवरण रूप से कहे गये हैं, जिसको आगे विस्तार से हम दिखावेंगे। इसी प्रकार दूसरे अवतारों के भी पूर्णता को बताने वाले पुराण, आगम, संहितादिकों में प्रसिद्धतर वाक्य हैं। इसलिये सभी अवतारों को अंशी स्वीकार करना चाहिये और अंशबोधक वाक्यों के साथ विरोध न हो इसलिये अवतारों में अंशता को भी स्वीकार करना चाहिये । तस्मात् सभी अवतारों में अंशिता और अंशता दोनों ही भाव हैं। सब अवतारों के अंशरूप सभी अवतार हैं । अतः वे अवतार उन-उन अपने अंशों के अंशी हैं और अंशियों के वे सब अंश हैं तथा नाम, धाम, और परिकरों के अंशी हैं। इसी प्रकार लीलाओं के भी अंशी हैं।

ननु 'सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः । नहि जाते स्मृते रासे मनोम कीदृशं भवेत् ॥' इत्यनेन रासलीलाया एवोत्कृष्टत्वमुक्तमितिचेदुच्यते-यथाऽवतारेषु निरस्तसाम्यातिशयत्वं यस्योक्तं तत्स्वांशोपेक्षयैव, न त्वंश्यन्तरापेक्षया, तेषामपि निरस्तसाम्यातिशयत्वस्योक्तत्वात् । अन्यथा 'लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः' इत्याद्युक्तं श्रीरामस्य यन्निरस्तसाम्यातिशयत्वं 'स्वयंत्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः' इत्यादिनोक्तं यच्छ्रीकृष्णस्य निरस्तसाम्यातिशयत्वं । 'निरस्तसाम्यातिशयोपि यत्स्वयं पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम्' इत्याद्युक्तं शिवस्य यन्निरस्तसाम्यातिशयत्वं तद्बाध्येत । अतः स्वांशमादायैव निरस्तसाम्यातिशयत्वमुक्तम् ॥

यहाँ शंका करते हैं कि भगवान ने तो ऐसा कहा है कि 'यद्यपि हमारी मनोहर बहुत सी वे लीलाये' हैं लेकिन उनके स्मरण होने पर मन विकृत नहीं होता है और रास के स्मरण होते ही हमारा मन

कैसा तो हो जाता है, अर्थात् हमारे मन को आकर्षण कर लेती है, इस वाक्य से रास लीला की ही सबसे उत्कृष्टता कही गई है। उत्तर - इस पर कहते हैं कि जैसे अवतारों में निरस्तसाम्यातिशयता (साम्यता और अधिकता जिनकी हटा दी गई है ऐसा) जिस अंशी की कही गई है वह अपने अंश की ही अपेक्षा से कही गई है। दूसरे अंशी की अपेक्षा से नहीं कहीं गई है, क्योंकि उन सभी को निरस्तसाम्यातिशयता वाला कहा गया है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो 'अधिक और साम्यता से विमुक्तधाम वाले, लीला से शरीर ग्रहण करने वाले, इत्यादि से कही गई श्रीरामजी की निरस्तसाम्यातिशयता, तथा स्वयं तो साम्यातिशयता से रहित हैं और तीनों के अधीश हैं, इत्यादि से कही गई श्रीकृष्ण जी की निरस्तसाम्यातिशयता, और जो स्वयं साम्यातिशय से रहित हैं तथा सज्जनों की गति भी हैं तो भी पिशाचचर्या का आचरण करते हैं, इत्यादि से कही गई शिवजी की निरस्तसाम्यातिशयता, सो बाधित हो जायगी। इस लिये अपने अंश को लेकर ही निरस्तसाम्यातिशयता कही गई है।

यथावा 'तासां तु मध्ये मथुरैव धन्या, इत्यादिना मथुरामाहात्म्यमुक्तं, यथावा 'अयोध्या सदृशी काचिद् दृश्यते न परा पुरी, इत्यादिनाऽयोध्यामाहात्म्यमुक्तं, यथावा 'काशीप्राप्तकराणिषट्' इत्यादिना काश्यामाहात्म्यमुक्तम् । एवं जन्माष्टम्येकादशीव्रतादावप्युक्तम् । तत्र यथैकस्योत्कृष्टत्वेऽप्यन्यस्यापकर्षो नास्ति, अचिन्त्यस्वरूपत्वेन यथा वा श्रुतावपि "पूर्णात्पूर्णे गृहीतेऽपि पूर्णमेवावतिष्ठति" तत्रापि यथाचिन्त्यस्वरूपत्वम्, एवं लीलानामपि भगवदात्मकत्वेनाचिन्त्यस्वरूपत्वादेकस्या उत्कर्षे बोधितेऽन्यस्या अपकर्षो नास्तीति ज्ञेयम ॥

और जैसे 'उन सबमें तो मथुरा ही धन्य है, इत्यादि से मथुरा का माहात्म्य कहा गया' अथवा जैसे 'श्री अयोध्या के सदृश दूसरी कोई भी पुरी नहीं दिखाई पड़ती है' इस वाक्य से अयोध्या का माहात्म्य कहा और जैसे 'काशी के प्राप्त करानेवाले छ हैं, इस वाक्य से काशी का माहात्म्य कहा गया है। इसी प्रकार से जन्माष्टमी एकादशी आदि व्रतों में भी कहा गया है। तो जैसे वहाँ एक का उत्कर्ष होने पर भी अचिन्त्य स्वरूप होने से अन्य का अपकर्ष नहीं है। जैसे श्रुति में भी 'पूर्ण से पूर्ण ग्रहण कर लेने पर भी वह ब्रह्म पूर्ण ही रहता है, वहाँ पर भी जैसे अचिन्त्यस्वरूपता ही है। उसी प्रकार से लीलाओं में भगवदात्मक (भगवत्स्वरूप) होने से और अचिन्त्य स्वरूप होने से एक लीला का उत्कर्ष कहने से अन्य लीला का अपकर्ष (हीनता) नहीं हो सकता यह जानना चाहिये ॥

ननुयऽप्यन्यास्वपकर्षो नास्ति, अथाप्युत्कृष्टत्वं कथमितिचेत् - उच्यते- भगवति यथा विरुद्धधर्माश्रयत्वेनांशित्वमंशत्वमस्त्येव, यथा वा पुरीषुव्रतादिषु चांशीत्वमंशत्वमस्ति, एवं भगवल्लीलास्वप्यांशीत्वमंशत्व ज्ञेयम् । यदि लीलासु रासस्यैवोत्कृष्टत्वं स्यात्तर्हि तदुत्तर समृद्धिमदाख्यस्य सम्भोगस्य सर्वोत्कृष्टत्वमुक्तं तदसङ्गतं स्यात् ॥

यद्यपि अन्य लीलाओं में अपकर्षता (हीनता) नहीं है तो भो उत्कृष्टता केसे है ? यह यदि शंका करो तो उसका उत्तर यह है कि - भगवान में जैसे विरुद्ध धर्म का आश्रय होने से अंशी और अंश भाव का व्यवहार है अथवा जैसे मथुरादि पुरियों और जन्माष्टम्यादि व्रतों में अंशी अंश भाव है, उसी प्रकार से भगवान की लीलाओं में भी अंशी अंश भाव है, यह जानना चाहिये । यदि लीलाओं में रास का ही उत्कृष्टत्व है ऐसा मानोगे तो आगे चलकर समृद्धिमदाख्य भोग को सबसे उत्कृष्ट कहा गया है सो कहना असंगत हो जायगा ।

ननु समृद्धिमदाख्ये यो रासस्तस्यैवोत्कृष्टत्वमिति चेदुच्यते - अत्र श्लोके 'स्मृते रासे, इत्युक्तं, स्मरणं हि पूर्वानुभूतस्यैव भवति' समृद्धिमति रासस्तु तदुत्तरमस्ति । श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि' इत्यनेन बाललीलायाः सुखतमत्वमुक्तं तदप्यसङ्गतं स्यात् । तस्मात् सर्वा अपि लीला उत्कृष्टास्तास्वांशीत्वांशत्वमस्ति ।

यदि कहें कि समृद्धिमदाख्य संभोग में जो रास है उसी की उत्कृष्टता है अन्य की नहीं, सो नहीं कह सकते ; क्योंकि इस श्लोक में 'स्मृते रासे' ऐसा कहा है और स्मरण पूर्व में अनुभूत का ही होता है समृद्धि मति रास तो बाद को है। श्री भागवत के एकादशस्कन्ध में लिखा है कि 'इस प्रकार से भगवान के कल्याणमय रुचिर अवतार वीर्य और बालचरित हैं। इस वाक्य से बाल लीला को सुखतमत्व कहा गया है वह भी असंगत होगा अतः सभी लीलायें उत्कृष्ट हैं उनमें अंशिता और अंशता है ।

अत्र लीलास्वंशांशित्वं त्रिविधंज्ञेयम । एवं तु कस्यांचिल्लीलायां माधुर्य्यप्रकटनं स्वल्पं, तस्यामेव कदाचिन्माधुर्य बहु प्रकटितं, तत्र यदा स्वल्पमाधुर्यादिप्रकटनं तदांशत्वं यदा बहु माधुर्यादि प्रकटनं तदा तस्या एवांशित्वंज्ञेयम् । द्वितीयं तु अंशेन क्रियमाणा लीलांशरूपा अंशीना क्रियमाणांशिरूपा । तृतीयं तु या लीलायल्लीलायाः पोषार्थं क्रियमाणा सांशरूपा या च तया पुष्टा सांशिरूपेति । व्रतेषु त्वंशांशित्वं व्रतदेवतानामंशांशित्वेन एवमेव पुरी नामादिष्वपि ज्ञेयम् ॥

यहाँ लीलाओं में अंश अंशी भाव तीन प्रकार का जानना चाहिये। जैसे कि किसी लीला में माधुर्य का प्रगटन थोड़ा है और फिर उसी लीला में कभी माधुर्य अधिक प्रगट कर दिया । तब जिस समय स्वल्प माधुर्य प्रगट किया तब उसी लीला में अंश भाव हुआ और जब अधिक माधुर्यादि को प्रगट किया तब उसी लीला को अंशी भाव भी हो गया । द्वितीय प्रकार है कि अंश के द्वारा की गई लीला अंशरूपा है और अंशी के द्वारा की गई लोला अंशीरूपा है। तीसरा प्रकार है कि जो लीला जिस लीला की पुष्टि के लिये की जाती है वह पोषिका लीला अंशरूपा हुई और उससे पुष्ट हुई लीला अंशीरूपा है। परंच व्रतों में अंश अंशी भाव उस देवता के अंश अंशी भाव से होता है। इसी प्रकार से पुरी के नामादिकों में भी समझना चाहिये ।

एवं भगवद्विषयकेषु रसेषु सख्यवात्सल्यादिषु यत्रोत्कर्षापकर्षबोधक वाक्यानि सन्ति तत्रापि तेषां भगवदात्मकत्वादचिन्त्य स्वरूपत्वेनांशांशित्वमादायैव समाधानं ज्ञेयम् । तथाहि तानि वाक्यानि तत्तद्रसाविष्टस्य भगवतो वा तत्तद्रसाविष्टस्य भक्तस्य वा सन्ति, यत्र यस्मिन् रसे यस्यावेशो वर्तते तस्य तु तद्रसस्यांशित्वेन भानं, अपरस्यांशत्वेन भानमस्ति । तस्मात्तयोस्तारतम्यज्ञानमप्यभ्रान्तमेव, यदचिन्त्य शक्त्योभयोरंशांशित्वमविरुद्धमस्तीति प्रतिपादितमेव । एवमेव लीला-व्रत-तीर्थ-माहात्म्यादि निरूपक वाक्येष्वपि ज्ञेयम् । अतः सर्वाणि वचनान्यंशांशित्व बोधकानि यथा श्रुतान्येव समञ्जसानि भवन्ति ।

इति श्री गालवाश्रम गाद्याधिपति मधुर रसाचार्य श्री १००८ श्रीमहाराज मधुराचार्यकृते श्रीरामतत्वप्रकाशेऽवतारादीनामंशांशित्वनिरूपणं नाम प्रथमोल्लासः ॥

एवं भगवद्विषयक सख्य वात्सल्यादि रसों में भी जहां उत्कर्ष अपकर्ष बोधक वाक्य हैं, वहां पर भी उनका भगवदात्मक होने से अचिन्त्यस्वरूप के कारण अंश अंशी भाव लेकर ही समाधान करना चाहिये, तथाहि कह के समाधान प्रकार दिखाते हैं कि वे वचन सख्यवात्सल्यादि तत्तद्रस में आविष्ट भगवान के हैं अथवा तत्तद्रस में आविष्ट भक्त के हैं। तात्पर्य यह है कि जिस समय जिसका जिस रस में आवेश हैं उसको उस समय वह रस अंशी भाव से भासित होता है और दूसरा रस अंश भाव से भासित होता है। इसलिये दोनों में तारतम्य का ज्ञान अभ्रान्त (ठीक २) है क्योंकि अचिन्त्य शक्ति से दोनों में अंश अंशी भाव विरोध रहित है, यह प्रतिपादन किया ही गया है। इसी प्रकार से लीला, व्रत, तीर्थ आदि के माहात्म्य निरूपण करने वाले वाक्यों में भी समझना चाहिये । अतः सब वचन अंश अंशी भाव बोधक यथा श्रुत ही अर्थ को प्रतिपादन करते हुए सामञ्जस्य को प्राप्त होते हैं।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेन अखिलेश्वरदासेन कृतायां उद्योताभिधभाषाटीकायां प्रथमोल्लासः ॥१॥

द्वितीयोल्लासः

अथ श्रीरामोत्कर्षनिरूपको द्वितीयोल्लासः

एवं सति सर्वेषामप्यवताराणां पूर्णत्वं सिद्धम् । तत्र दिक् प्रदर्शनार्थं श्रीरामस्योत्कर्षोऽत्रनिरूप्यते । एवमुत्कर्षः सर्वेषामपि बोध्यः । तत्र श्रीरामस्यांशित्वमंशत्वमस्ति । तत्र 'भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति' इति न्यायादंशिरूपस्यैवोपासनमुत्कृष्टफलदमस्ति । अतः श्रीरामस्यांशिन एवोपासनं कर्तव्यम् । अतोंशित्व बोधकानि वचनानि संगृह्यन्ते ।

इस प्रकार प्रथमोल्लासविधि से सभी अवतारों की पूर्णता सिद्ध की गई। उसका दिग्दर्शन कराने के लिये श्रीरामजी के उत्कर्ष का यहाँ निरूपण किया जाता है। इसी प्रकार सभी का उत्कर्ष समझ लेना चाहिये । जहाँ पर श्रीरामजी का अंश और अंशी भाव से प्रतिपादन आया है, वहाँ 'भूम्नः - समस्तोपासनस्य, ज्यायस्तं श्रैष्ठ्यम् । व्यस्तवादः क्रतुवद्दृष्टव्यः, तथाहि दर्शयति समस्तोपासनस्य ज्यायस्त्वमेव दर्शयति" श्रुतिः अर्थात् समस्त उपासना को ही श्रेष्ठ (प्रामाणिक) माना जाता है व्यस्तवाद क्रतु की तरह समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि छान्दोग्य उपनिषद में वैश्वानर विद्या का प्रतिपादन आया है, उस विद्या में वैश्वानर परमात्मा त्रैलोक्यशरीर वाला उपास्य है जिसके स्वर्ग-लोक, आदित्य, वायु, आकाश, ज़ल, पृथ्वी अवयव हैं। उसमें स्वर्ग मूर्धा, आदित्य चक्षु, वायु प्राण, आकाश मध्यशरीर, जल वस्ति, पृथ्वी चरण हैं, ये अवयव विशेष प्रतिपादन किये गये हैं। उसमें सन्देह होता है कि त्रैलोक्य शरीरक वैश्वानर परमात्मा की व्यस्त उपासना करनी किंवा समस्त उपासना करनी अथवा व्यस्त समस्त उभयविध करनी चाहिये । सिद्धान्त है कि समस्त उपासना ही करनी चाहिये। यदि कहें कि व्यस्त उपासना का भी फल श्रुत है अतः व्यस्त भी करनी चाहिये, तो उसका उत्तर यह है कि व्यस्तोपासना का प्रकार यज्ञ की भाँति समझना चाहिये अर्थात जैसे 'वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते" वैश्वानर देवता के द्वादश कपालों का निर्वपन करें पुत्र हो जाने पर, इत्यादि मंत्रों से विहित यज्ञ के एक देश 'यदष्टाकपालो भवति' जो अष्टाकपाल होता है इत्यादिकों से अनुवाद किया गया है, उसी प्रकार यहाँ पर भी समस्तोपासना का ही प्रतिपादन है, व्यस्तोपासन तो समस्तोपासन का अनुवाद मात्र है। अतः समस्तोपासन को ही श्रुति प्रामाणिक मानती है। इस न्याय से अंशीरूप श्रीरामजी का उपासन ही उत्कृष्ट फल देने वाला है। अतः अंशीरूप श्रीरामजी की ही उपासना करनी चाहिये । इसलिये अंशी भाव बोधक वचनों का संग्रह करते हैं।

तत्र पूर्णत्वमुत्तरतापिन्यां तत्रोक्त श्रुतेरर्थः 'अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैक विग्रहः, 'सर्वेश्वरः सर्वज्ञः, 'सर्वदाद्वैत रहितः" परिपूर्णः, आनन्द विज्ञानात्मा भगवान् अद्वयानन्दः, इति अद्वय आनन्दो यस्य, यस्माद्वा, अद्वयश्चासावानन्दश्चेति वा अद्वयानन्द इति विग्रहो बोध्यः ॥

श्रीरामजी का पूर्णब्रह्मत्व प्रतिपादन श्रीराम उत्तरतापिनी में है। वहाँ उक्त श्रुति का अर्थ है कि श्रीरामजी अर्धमात्रात्मक है और ब्रह्म, आनन्द रूप ही एक विग्रह हैं 'सर्वेश्वर और सर्वज्ञ हैं, सर्वदा द्वैतरहित हैं, परिपूर्ण, आनन्द विज्ञानात्मा भगवान अद्वय आनन्द स्वरूप हैं, यहाँ पर 'अद्वयानन्द' इस पद में 'अद्वय आनन्द जिसके हैं' अथवा 'जिससे हैं' यह समास अथवा 'अद्वय ही यह आनन्द' ऐसा कर्मधारय समास जानना चाहिये।

श्रीभागवते एकादशस्कन्धे जायन्तेयवाक्ये सर्वावतारगणनायाम् (११-४-२१) सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिरित्यत्र जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यनेन सर्वोत्कृष्टत्वं श्रीरामस्योक्तम । इदं वाक्यं सर्ववाक्यापेक्षया प्रबलमस्ति, यतोऽस्मिन् वाक्ये बहूनां सम्वादोऽस्ति, अतो बहुसम्मतमिदं वाक्यम् । तथाहि - एकादश स्कन्धे - भगवदुद्धव सम्वादः श्रीभागवत सार भूतोऽस्ति, "यत्रात्मविद्या निखिला प्रोक्तो धर्मविनिर्णयः" इत्यनेन पूर्व स्कंधोक्तात्मविद्या प्रतिपादकत्वान् । किञ्चनिगमकल्पतरोर्गलितं फलं (१-१-३) इत्युक्त्या," सर्व वेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम् ॥ इत्युक्त्या च श्रीभागवतस्य निगमसारत्वसिद्धे "निगम कृद्दपजह्ले भृंगवद्वेदसारम्" (११-२९-४९) इत्यत्र पुनर्वेद सारत्वोक्त्या श्रीभागवतसारत्वं भगव-दुद्धवसंवादस्यास्ति ।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में जयन्ती पुत्र नवयोगेश्वरों में 'द्रुमिल' ने सब अवतारों की गणना करते हुए यह कहा है कि "विश्व के मल को नाश करनेवाली कीर्त्ति से युक्त श्रीसीतापति की जय हो" यहाँ पर 'जयति' अर्थात् सब उत्कर्ष से वर्तमान है। इस वाक्य से श्रीरामजी का सर्वोत्कृष्टत्व प्रतिपादन किया गया। तथा यह वाक्य भागवत के अन्य वाक्यों की अपेक्षा प्रबल है, क्योंकि इस वाक्य में बहुतों का संवाद है, अतः यह वाक्य बहुसम्मत है, ग्रंथकार तथाहि करके इस वाक्य में बहु सम्मतत्व को दिखाते हैं कि एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण भगवान और उद्धव का सम्वाद श्रीभागवत का सारभूत है क्योंकि (जहाँ पर निखिल आत्म विद्या और धर्म का निर्णय कहा गया है) इस वाक्य से पूर्व स्कन्धोक्त आत्मविद्या की प्रतिपादकता है, और (निगम कल्पतरु का टपका हुआ यह फल है) इस वाक्य से और (सब वेदान्तों का सारभूत जो ब्रह्मात्मैकत्व लक्षण है) इस कथन से श्रीमद्भागवत समस्त निगम का सार-भूत है यह सिद्ध हो जाने पर भी - भगवान ने भ्रमर की भाँति इस वेद-सार को उपहरण किया - यहाँ पर पुनः वेदसारतया कथन करने से श्री भगवान और उद्धव का संवाद भागवत का सार सिद्ध होता है।

एवं भगवदुद्धव सम्वादस्य श्रीभागवत सारत्वे सिद्धे नवयोगेश्वर सम्वादस्य 'नारदो वसुदेवस्य समासेन व्यवर्णयत् । भगवानुद्धवायाह विस्तरेणोपपत्तिभिः ॥' इति श्रीधरस्वामि वाक्यात् एकादशीय भगवदुद्धव सम्वादः समास रूपोऽस्ति । तत्र सर्वावतारानुक्त्वा श्रीरामस्य जयतीत्यनेन सर्वोत्कृष्टत्वं प्रतिपादितम् । एतद्वाक्यस्य - सूत वाक्यसार भूतत्वं, शुकवाक्यसारभूतत्वं, नारद वाक्य सारभूतत्वं, जायन्तेयवाक्यसार भूतत्वं चास्ति, उपसंहार वाक्यसारभूतत्वात् । भगवदुद्धवसम्वादे "निस्सृतं ते

मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः । पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान्भवः (११-२७-३) इत्यनेन ब्रह्मवाक्यसार भूतत्वमप्यस्ति । ब्रह्मवाक्यस्य तत्सम्वादान्तरगतत्वात् । व्यासवाक्यसारभूतत्वं तु श्रीभागवतसारभूतत्वेनैव । तस्माच्छीभागवतवक्तृणां सर्वेषां वाक्यसारभूतत्वं एतद्वाक्यस्य निर्व्यूढम् । अग्रेच भगदुद्धव सम्वाद एतस्यैव विस्तरोस्ति, अतो भगवद्वाक्यसारभूतत्वञ्च ।

इस प्रकार भगवान और उद्धव का सम्वाद भागवत का सार भूत है, यह सिद्ध हो जाने पर नव योगेश्वर प्रसंग को (नारद ने वसुदेव से संक्षेप में वर्णन किया उसी को भगवान ने उद्धव के लिये उपपत्तियों के द्वारा विस्तार से वर्णन किया) इस श्रीधर स्वामी के वाक्य से एकादश स्कंध का भगवदुद्धव संवाद समासरूप है - वहां सब अवतारों को कह कर श्रीरामजी का 'जयति' इस वाक्य से सर्वोत्कृष्टत्व प्रतिपादन किया गया है, यह वाक्य सूत वाक्य का भी सारभूत है और शुक वाक्य का भी सारभूत है एवं नारद तथा जायन्तेय योगेश्वरों के वाक्य का भी सारभूत है क्योंकि यह वाक्य उपसंहार वाक्यों का सारभूत है, तथा भगवदुद्धव संवाद में (भगवान् ब्रह्माजी ने भृगु प्रमुख पुत्रों से तथा भगवान् शंकर ने देवी पार्वती से जिस सिद्धान्त को कहा था वही सिद्धान्त आपके मुख कमल से निकला है) इस कथन से श्री ब्रह्मा और श्री शंकरजी के वाक्य का भी सारभूत है, क्योंकि ब्रह्मा और शंकर का वाक्य भी इस संवाद के अन्तर्गत ही है। और व्यास भगवान् के वाक्य का सारभूत तो इसलिये है कि यह श्री भगवदुद्धव संवाद भागवत का सारभूत है। इसलिये भागवत के कहने वाले जितने भी महापुरुष हैं उन सब के वाक्यों का सारभूत यह वाक्य है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ। आगे भी भगवदुद्धव संवाद इसी वाक्य का विस्तार है, इसलिये भगवद्वाक्य का भी यह वाक्य सारभूत है।"

अतएव श्रीधर स्वामिभिर्जायन्तेयेतिहासाद्यैः समासव्यासरूपतः 'नारदो वसुदेवाय समासेन व्यवर्णयदित्यनेन समासरूपत्वमुक्तम् । भगवानुद्धवायाह विस्तरेणतोपपस्तिभिरित्यनेन भगवदुद्धव सम्वादस्य विस्तररूपत्वमुक्तम्, तथा चैतद्वाक्येन सर्वेभ्य उत्कर्षः श्रीरामस्य सिद्धयति ।

अतएव श्रीधर स्वामि ने "जायन्तेय इतिहासादिकों में समास व्यास रूप से नारद ने वसुदेव से संक्षेप में कहा" इस वाक्य से नारद वसुदेव का संवाद संक्षेप रूप में कहा है और "भगवान ने उद्धव से युक्तियों के द्वारा विस्तार पूर्वक वर्णन किया", इस कथन से भगवान और उद्धव का संवाद विस्तार रूप से कहा है। यद्यपि "सीतापतिर्जयति" यह वाक्य भगवदुद्धव सम्वादान्तरर्गत प्रत्यक्ष नहीं है परन्तु श्रीधर स्वामी के वाक्य से भगवदुद्धव संवाद वसुदेव नारद के संवाद का ही विस्तृत विवेचन है, इसलिये इस वाक्य से श्रीरामजी का सर्वावतारों से उत्कर्ष सिद्ध होता है (यही ग्रन्थकार का सिद्धान्त है)।

तथैव नवमस्कन्धे- 'नेदं यशो रघुपते सुर याञ्चयात्त लीलातनोरधिकसाम्यविमुक्त धाम्नः" (९।११।२०) इत्यत्र 'वि' शब्दो विशेषेणाधिक साम्यराहित्यं बोधयति, ब्रह्मवाक्ये च "अस्म-

त्प्रसाद सुमुखः कलया कलेशः (२/७/२३) इत्यत्र कीदृशः ? "कलया कलेशः कलया अंशेन कलेशः" कलानां अवताराणामीशः स्वामी तथा च "यश्यांश एव सर्वावताराणामवतारीत्यनेनोत्कर्षः सिद्धयति ।

उसी प्रकार नवस स्कंध के (अधिक और साम्य से विमुक्त धामवाले देवताओं की प्रार्थना से लीलातनु को धारण करने वाले श्रीरघुनाथ जी का इतना ही यश नहीं है) इस वाक्य में 'वि' शब्द (उपसर्ग) विशेष करके अधिक और साम्यता का अभाव बोधन करता है, और द्वितीय स्कन्ध के ब्रह्माजी के "अस्मत्प्रसाद सुमुखः" इस वाक्य में भी उत्कर्ष सिद्ध होता है, क्योंकि कला से कलाओं के ईश हम सब पर प्रसाद से सुमुख होकर अवतीर्ण हुए। यहां अवतीर्ण हुए रघूत्तम कैसे हैं ? "कलया कलेश" हैं अर्थात् 'कलया' माने अंश से एवं 'कलेश' माने अवतारों के ईश स्वामी हैं। और "जिनके अन्य सभी अवतार अंश हैं तथा अवतारी श्रीरघूत्तम हैं" इससे भी उत्कर्ष सिद्ध होता है।

एकादश स्कन्धे एकोनत्रिंशाध्याये - यो रोचयत्सहमृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्कीरीट तर पीडित पाद पीठः (११।२९।४) इत्यत्रापि स्वयमीश्वराये तेषां कीरीट तटैः पीडितं पादपीठं यस्येत्यनेनाप्युत्कर्ष एव सिद्धयति । श्रीधरस्वामिभिरपि "यतो यो भगवान् श्रीरामरूपेण मृगैः वानरैः सह साहित्यं सख्यमिति यावत् अरोचयत प्रीत्याकृतवान्" इति व्याख्यातम् ।

ग्यारहवें स्कंध के उनतीसवें अध्याय में - "ईश्वरों के भी श्रीमत्कीरीटतटों के प्रान्तों से पीड़ित चरणपीठ वाले श्रीरामजी ने स्वयं मृगों, वानरों के साथ मित्रता की" - यहां पर भी स्वयं जो ईश्वर हैं उनके कीरीटतटों से चरण-कमल पीड़ित हैं (वन्दित हैं) इससे भी उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। और श्रीधर स्वामीने भी - "जिसलिये जिन भगवान् ने श्रीरामरूप से वानरों के साथ मित्रता प्रीतिपूर्वक की, ऐसी व्याख्या की है।"

"श्रीरामस्तवराजे च" - इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते । रामः सत्यं परब्रह्म रामात्किञ्चिन्न विद्यते ।" इत्यत्र किञ्चिदित्यनन्तरम् विशिष्यानुक्तत्वात् संन्निहितं परमित्यन्वेति, पर शब्द उत्कृष्टार्थकः तेन श्रीरामादुत्कृष्टं किमपि नास्तीत्युक्तम् ।

श्री रामस्तवराज में भी (७१-७२) वें श्लोक में - "यह सत्य है, यह सत्य है, यहाँ सत्य ही कहते हैं कि श्रीराम ही सत्य परब्रह्म हैं, श्रीराम से अन्य कोई भी उत्कृष्ट नहीं है" यहाँ पर "किंचित्" इस पद के बाद कोई विशेषण नहीं दिया गया, अतः यह 'किंचित्' शब्द समीपस्थ पर के साथ अन्वित होगा, और पर शब्द उत्कृष्टार्थक है अतः श्रीरामजी से उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है, यह कहा गया है ।

श्रीभागवते प्रथमे च - 'एतेचांश कलाः पुंसः कृष्णास्तु भगवान स्वयम् । इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे । (१।३।२८) अस्यार्थः पूर्वं "नरदेवत्वमापन्नः सुरलोकचिकीर्षया । समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् " (१।३।२२) इति श्लोके अतः परत्वमात्रम्

श्रीरामस्योक्तम्, तेन वासुदेवात्परत्वमात्रम् सिद्धम् स्वरूप निर्णयोनोक्तः । सोऽस्मिन्नेते चांशकला इति श्लोके "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यनेन प्रतिपाद्यते । तथाच कृष्णपदेन श्रीरामोगृह्यते । श्रीरामायणे युद्धकाण्डे रावणवधोत्तरं ब्रह्मस्तुतौ - "अजितः खड्गभृद्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः (युद्ध० सर्ग ११७ श्लोक १५) अग्रेच "महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बध्वा महासुरम् । सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥ (११७-२७) इत्यत्र स्पष्टमेव कृष्णशब्दस्य श्रीरामे प्रयुक्तत्वात् । "रामं कृष्णं जगन्मयम्" (३५) इति रामस्तवराजे तथा 'रामं कृष्णमनामयम् ।' अगस्त्य संहितायां कृष्णपदेन श्रीराम प्रतिपादनत्वात् । रुद्रयामलीय श्रीराम सहस्रनाम्नि "काकपक्षधरः कृष्णः कृष्णोत्पलदलच्छविः" इति वचनाच्च ।

श्रीभागवत के प्रथम स्कंध में - "ये सब पुरुष के अंशकला हैं और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। दैत्यों से व्याकुल संसार को प्रतियुग में परित्राण करते हैं।" इस श्लोक का अर्थ (ग्रंथकार ने स्वयं भी किया है) पहले देवताओं का कार्य करने की इच्छा से चक्रवर्त्तित्व पद को प्राप्त होकर समुद्र निग्रहादिक पराक्रमों को किये" इस श्लोक में "अतः परं" इस पद से श्रीरामजी का 'अ' पद वाच्य वासुदेव से परत्वमात्र कहा गया। इससे वासुदेव से श्री रामजी का परत्व मात्र सिद्ध हुआ। स्वरूप का निर्णय तो नहीं कहा गया । वह स्वरूप का निर्णय "एते चांश कलाः" इस श्लोक में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इस पद से प्रतिपादन किया गया । तथा च यहाँ श्रीकृष्ण पद से श्रीरामजी ही गृहीत होते हैं, क्योंकि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड में रावण वध के बाद ब्रह्माजी की स्तुति में "हे रामजी आप अजित हैं और खड्गधारी विष्णु हैं - कृष्ण और बड़े बलवान् हैं" आगे भी - "महा असुर बलि को बांधकर आपने इन्द्र को राजा बनाया, श्री सीताजी लक्ष्मी और आप विष्णु-देव-कृष्ण और प्रजापति हैं" यहाँ स्पष्ट रूप से कृष्ण शब्द का प्रयोग श्रीरामजी में किया गया है। श्रीराम स्तवराज में भी कृष्ण श्री रामजी जगन्मय हैं" और "अनामय श्री रामकृष्ण हैं" इस अगस्त्य संहिता में भी कृष्ण पद से श्रीरामजी का प्रतिपादन किया गया है, रुद्रयामल के श्रीराम सहस्र नाम में भी काक पक्षधर कृष्ण - एवं कृष्ण कमल दल की छवि वाले" इस वचन से कृष्ण नाम श्रीरामजी का ही सिद्ध होता है।

अत्र कृष्णपदं न श्रीकृष्णावतारं प्रक्रम्योक्तम्किन्तु श्रीरामं प्रक्रम्यैव । श्रीभागवते "कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं" (११-५-३२) इत्यत्र श्रीधर स्वामि व्याख्यानेऽपि रूक्षतां व्यावर्तयति त्विषा कान्त्या अकृष्णं इन्द्रनीलमणिवदुज्ज्वलम् इत्यनेन श्री रामस्य कृष्णवर्णत्वात् श्रीरामो ग्राह्यः । "त्यक्त्वासुदुस्त्यज" (११-५-३४) इत्यादिना श्रीरामस्तुत्या श्रीरामस्यैव कृष्णनामत्व प्रसिद्धेः । राम तापिन्यामपि मत्स्याद्यवतारित्वस्य भगवत्त्वस्य चोक्तत्वाच्च, ध्यानान्तरेषु शुक्लादिवर्णानां विद्यमानत्वेन तद्ग्रहणं स्यादतस्तद्व्यावर्तनाय कृष्ण पदोपादानम् ।"

यहाँ कृष्णपद श्रीकृष्णावतार का उपक्रम करके नहीं कहा गया है, किन्तु श्रीरामजी का उपक्रम करके ही कहा गया है, क्योंकि श्रीभागवत में (कृष्णवर्ण कान्ति से भी कृष्ण) इस श्लोक की व्याख्या में श्रीधर स्वामि ने लिखा है कि - जो अपनी कान्ति से रुक्षता को व्यावर्तन (दूर) करते हैं और अकृष्ण अर्थात् इन्द्रनीलमणि की भाँति उज्जवल हैं - इस कथन से श्रीरामजी का कृष्ण वर्ण प्रतिपादन किया गया, अतः यहाँ कृष्ण पद से श्रीरामजी का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि आगे "त्यक्त्वासुदुस्त्यज" इत्यादि श्लोकों से श्रीरामजी की ही स्तुति की गयी है, इसलिये श्रीरामजी का ही कृष्ण नाम प्रसिद्ध हुआ। राम तापनी में भी - मत्स्यादि अवतारों का अवतारित्व और भगवत्ता का प्रतिपादन किया गया है तथा दूसरे युगों के ध्यानों में शुक्लादि वर्गों का ध्यान विद्यमान है इसलिये उनका शुक्लादिवर्णों का ग्रहण न हो जाय अतः उन वर्णों का निराकरण करने के लिये कृष्ण पद का उपादान किया गया है।"

ननु यद्वा इति श्रीधर स्वामिनां द्वितीय व्याख्याया क आशय इति चेदुच्यते । श्रीधर स्वामिभिः पूर्वव्याख्यायां अकार प्रश्लेषेण प्रभया उज्ज्वलत्वं व्याख्यातम् । द्वितीय व्याख्यायां कृष्णमिति पदच्छेदं कृत्वा कान्तेः कृष्णत्वमाकर्षकत्वमुक्तम् । कृष्णस्योपासनंतु द्वापरे "नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणायच । प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः (११-५-२९) इत्यादिना द्वापर युगोपास्यत्वं संदर्भ उक्तम् । कलियुगोपास्य कृष्णवर्णः कान्त्यापि कृष्णः उपास्य उक्तः । स च क इत्यपेक्षायामग्रे श्रीरामचन्द्रं स्तौति । "त्यक्त्वासुदुस्त्यजेति श्लोकाभासेन श्रीराम एव स्पष्टी कृतः ।

यदि कहो कि यद्वा करके श्रीधर स्वामि की दूसरी व्याख्या का क्या आशय है तो सुनिये यहाँ श्रीधर स्वामी ने पहली व्याख्या में कृष्ण शब्द के आगे अकार का प्रश्लेष (आगे रख) करके अकृष्ण शब्द का अर्थ प्रभा से उज्ज्वल हैं -- यह व्याख्यान किया, और दूसरी व्याख्या में यथाश्रुत 'कृष्णं' ऐसा ही पदच्छेद करके कान्ति से कृष्ण हैं अर्थात् आकर्षक हैं (इस प्रकार द्वितीय व्याख्या में कृष्ण शब्द का अर्थ आकर्षक किया है) श्रीकृष्ण की उपासना द्वापर के लिये 'नमस्ते वासुदेवायादि' द्वारा चतुर्व्यूह स्वरूप से उपासनीय मानी है और कृष्णसंदर्भादिकों में भी ऐसा ही कहा है। कलियुग के उपास्य देव कृष्णवर्ण और कान्ति से भी कृष्ण हैं, वे कौन हैं ? यह जिज्ञासा होने पर आगे श्रीरामजी की स्तुति करते हैं, अतः 'त्यक्त्वासुदुस्त्यज' श्लोक से श्रीराम ही उपास्य हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

यद्वा - दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम् (कृष्णोपनिषदि) इत्यादि वचनैः दण्डकारण्यवासि मुनीनामाकर्षकत्वात् पुंसः कृष्णः श्रीराम एव, श्रीकृष्णस्यतु स्त्र्याकर्षत्वं अतो न तस्य पुंसः कृष्णत्वम् । ननु तेषां मुनीनां मनोरथपूर्तिस्तस्मिन्नवतारे न जाता किन्तु जन्मान्तरे इति चेदुच्यते, यथा मुचुकुन्दस्य भगवद्दर्शने जातेऽपि भगवता तस्मिञ्जन्मनि स न मोचितः किन्तु जन्मान्तरे, तत्र यथा भगवदिच्छाकारणं एवमत्रापि सैव कारणं ज्ञेयम् । अथवा तस्मिन्नवतारे तेषां प्राप्तिर्जानैव, 'हरिं प्राप्तास्तु कामेन ततो मुक्ताभवार्णवा" दिति

वाक्यात् । अस्मिन्वाक्ये तत इत्यनेन हरि प्राप्त्युत्तरमेव भवार्णवात्तेषांमुक्तिः । अत्र हरि पदेन श्रीराम एव "दृष्ट्वा रामं हरिं" रामाख्यं हरिं दृष्ट्वा इत्युक्तत्वात् ।"

अथवा (मनोहर भगवान् श्री रामजी को देखकर उनके सुन्दर विग्रह को भोगने की इच्छा किये) इत्यादि वचनों से दण्डकारण्य वासी मुनियों के आकर्षक होने से पुरुषों के भी आकर्षक श्री रामजी ही हैं, श्री कृष्णजी तो केवल स्त्री जाति के आकर्षक हैं, इसलिये उनमें पुरुषों की आकर्षकता नहीं है। यदि कहें कि उन मुनियों की मनोरथ पूर्ति उसी अवतार में नहीं हुई किन्तु दूसरे अवतार में हुई, इस शंका का समाधान यह है कि जैसे मुचुकुन्द को भगवान् श्री कृष्ण का दर्शन हो जाने पर भी श्री कृष्ण भगवान् ने उसी जन्म में उनको मुक्त नहीं कर दिया किन्तु जन्मान्तर में ही किया। वहाँ जैसे भगवान् की इच्छा ही कारण है वैसे ही यहाँ पर भी भगवदिच्छा ही कारण जानना चाहिये । अथवा उसी अवतार में उन ऋषियों को भगवान् श्री रामजी की प्राप्ति हो ही गई, क्योंकि (काम भाव से भी श्री हरि को प्राप्त होकर ऋषिगण संसार सागर से मुक्त हो गये) यह वाक्य सिद्ध करता है। इस वाक्य में 'ततः' पद से भगवान् की प्राप्ति के बाद ही संसार समुद्र से उनकी मुक्ति कही गयी है। यहाँ 'हरि' पद श्री रामजी का ही वाचक है। क्योंकि "दृष्ट्वारामं हरिं" यहाँ पर "श्री रामाख्य हरि को देखकर" ऐसा ही कहा गया है।

यदि कृष्णावतारे तेषां मुक्तिरङ्गी क्रियते तदा तत इत्यनेन अव्यवहितोक्तिः हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवादित्यत्र मुक्ता इत्यतीतोक्तिश्च बाधिता स्यात् । किंञ्च, 'समुद्भूताश्चगोकुले' इत्यनेन पूर्वं दण्डकारण्ये श्री रामदर्शनं तदुत्तरमयोध्यायामागते श्रीरामे तेषां गोकुल उत्पत्तिस्ततः श्रीरामेण सह रमणं सूचितम् । यद्वा दण्डकारण्यवासिभिः मुनिभिः श्रीरामजन्मोत्सव दर्शनार्थमागतैस्तत्र श्रीराम दर्शनेजाते भोक्तुमैच्छन्नित्यनेन रमणेच्छा ततः स्त्रीत्व प्राप्तिर्गोकुल उत्पत्तिश्च ततो गोप रूपेण श्रीरामेण सह रमणम् । तदनुपदमेवैतद दृष्टान्तेनान्येषामपि जनानां कामेन क्रोधेन वा प्राप्तिरुक्ता । "क्रोधेनैव तथा दैत्या समेत्य मधुसूदनम् । अकुर्वन्कदनं तेन हतामुक्ति मवा प्रुयुः ॥ काम क्रोधौ नृणांलोके निरयस्यैव कारणम् । हरिं समेतौ तौ देवि मुक्त्यै गोपी सुरद्विषाम् ॥ कामात्क्रोधाद्भयाद्वेषाद्येभजन्ति जनार्दनम् । ते प्राप्नुवन्ति वैकुण्ठं किं पुनर्भक्ति योगिनः ।" इति, अत्र हरिपदं पूर्वोक्त रीत्या श्रीराम परमेवं, तेनान्येषामप्येवंरीत्या कामेन द्वेषेण वा मुक्तिरस्तीति ज्ञेयम् ॥"

यदि कृष्णावतार में उन ऋषियों की मुक्ति स्वीकार की जाय तो "ततः" इस पद से व्यवधान रहित क्षण में "भगवान् की प्राप्ति कही गयी है वह और "ततो मुक्ता भवार्णवात्" इस वाक्य में कथित अतीत काल की उक्ति भी बाधित हो जायगी । किञ्च, 'गोकुल में उत्पन्न हुए' इस वाक्य से पहले दण्डकारण्य में श्री रामजी को ऋषियों ने देखा उसके बाद श्री रामजी जब अयोध्या में आये तब ऋषियों की गोकुल में उत्पत्ति हुई, उसके बाद श्री रामजी के साथ रमण किया, ऐसा सूचित किया है । अथवा दण्डकारण्य वासी मुनिवर श्री रामजी के जन्मोत्सव देखने के लिये अयोध्या में आये

थे और वहाँ श्री रामजी के दर्शन होने पर "भोक्तुमैच्छन्" इस पद से रमण की इच्छा हुई तब स्त्रीत्व की प्राप्ति तथा गोकुल में उत्पत्ति हुई, ततः गोपरूपवाले श्री रामजी के साथ रमण हुआ। इसी प्रकार इस दृष्टान्त से और लोगों को भी काम से या क्रोध से भगवान् की प्राप्ति कही गयी। दैत्य क्रोध से ही भगवान् मधुसूदन को प्राप्त होकर उनके साथ उपद्रव करते हुए प्रभु के हाथ मर कर मुक्ति प्राप्त कर लिये, यद्यपि काम- क्रोध मनुष्यों के नरक के कारण हैं यह लोक प्रसिद्ध है तो भी हे देवि ! भगवान् के विषय में किये गये वे दोनों गोपी और राक्षसों की मुक्ति के लिये हुए। काम-क्रोध-भय या द्वेष से जो जनार्दन भगवान् का भजन करते हैं वे भी वैकुण्ठ भगवान को प्राप्त करते हैं। पुनः जो भक्ति-पूर्वक भजते हैं उनका तो कहना ही क्या ? यहां पर भी हरि पद पूर्व कथित प्रकार से श्री राम परक ही है, इन पूर्वोक्त लोक प्रमाण की रीति से और कोई भी काम या द्वेष से भगवान् का स्मरण कर मुक्त हो सकते हैं, यह समझ लेना चाहिये।

"यदि श्रीकृष्ण एवात्र गृह्यते तदा 'हता' इति "मुक्तिमवाप्नुयुः" इति च अतीत निर्देशो बाधितः स्यात् । अवतारान्तरेषु तु लीला परिकराणामिव मुक्तानामप्यागममविरुद्धम्, यद्ययंश्लोकः श्रीकृष्ण परत्वेनैव व्याख्यायते तदातु प्रकरण सह कृतायाः "राम कृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् (१-३-२३) इति श्रुते र्बाधःस्यात् । प्रकरणे "एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेनसृज्यन्ते देव तिर्यङ्नरादयः (भाग० १-३-५) इत्यनेन पुरुषांशत्वमेवोक्तम् । अत्र स्वयं भगवत्वेन तद्विरुद्धमंशित्वं प्रतिपाद्यते, श्रीरामपरत्वेन व्याख्यानेतु न प्रकरणान्तःपाति श्रुतेर्बाधः । यतः "नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया । समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् (भाग० १-३-२२) इति अतः परत्वश्रुतिः स्वत एव प्रकरणाऽविरुद्धास्ति अतो न तस्या बाधः । यदेतच्छ्रुतेरेकवाक्यतयैव "कृष्णस्तु भगवान्" इति श्रुतेरर्थोऽस्ति ।

यदि कृष्ण पद से श्रीकृष्ण ही यहाँ ग्रहण किये जाते तब तो "मारे गये" और "मुक्ति को प्राप्त हुए" यह अतीत निर्देश बाधित हो जायगा। दूसरे अवतारों में लीला परिकर जैसे साथ में अवतीर्ण होते हैं उसी प्रकार मुक्तों का भी आना विरुद्ध नहीं है, यदि इस श्लोक की श्रीकृष्ण परक ही व्याख्या की जाय तब प्रकरण के साथ "श्रीराम और कृष्ण इस रूप से भगवान् ने पृथ्वी के भार को उतारा" इस श्रुति का बाध हो जायगा। क्योंकि प्रकरण में (यही सब अवतारों के निधान आदि कारण एवं अव्यय हैं, इनके अंशांशों से देव-तिर्यक् मनुष्यादि उत्पन्न होते हैं) इससे कृष्ण भगवान् को पुरुष का अंश ही प्रतिपादन किया गया है। तब यहाँ स्वयं भगवत्वेन प्रतिपादन करना प्रकरण के विरुद्ध अंशी रूप से प्रतिपादन हो जायगा। यदि श्रीराम परक व्याख्या करें तब प्रकरणान्तर्गत आयी हुई श्रुति का बाध नहीं होगा, क्योंकि (देवताओं के कार्य करने की इच्छा से नरदेवत्व को प्राप्त हुए भगवान् ने समुद्र निग्रहादिक कार्यों को किये, अतः यह पर हैं) इसलिये यह परत्व श्रुति स्वतः ही प्रकरण से अविरुद्ध है, एतएव उसका बाध नहीं है। इस श्रुति के साथ एक वाक्यता करने पर ही 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इस श्रुति का अर्थ संगत होगा।

किञ्च, "पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति द्वितीय व्याख्यायामपि विरोधोनास्ति, कृष्ण शब्देनाकर्षण रुपाधिकगुणस्योक्तत्वात्, पाद्मोत्तरखण्डे "नृसिंह राम कृष्णेषु षाड्गुण्यं परिपूरितम्" इत्युक्त्वा "राम कृष्णावतारौतु परिपूर्णौ" इत्यनेन द्वयोराधिक्यमुक्त्वा पूर्वंरामस्य चरितं वक्ष्यामि तव सुव्रते । यस्यस्मरणमात्रेण विमुक्तिः पापिनां भवेत् ॥" इत्यनेन पूर्व चरित्रवणनेनाभ्यर्हितत्वमुक्तम्, अतएव रुद्रेण पार्वत्यै राम मन्त्रस्योपदेशः कृतः, राम शतनामचोक्तम्, रकारादिनामसुस्वस्य प्रीतिरुक्ता, तस्मात्सर्वोत्कृष्टत्वमस्ति, इदमेवपूर्णत्वं, स्वयं भगवत्त्वेनोच्यते ।"

परन्तु, "पुरुषों के आकर्षण करनेवाले स्वयं भगवान् हैं" - इस दूसरी व्याख्या में भी विरोध नहीं है, क्योंकि कृष्ण शब्द से आकर्षण रूप अधिक गुण कहा गया है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में "श्रीनृसिंह-राम और कृष्ण इनमें षड् गुणों की परिपूर्णता है" यह कहकर श्रीदाशरथी राम और श्रीकृष्ण ये दोनों अवतार अपने गुणों से परिपूर्ण हैं, इस वाक्य से अन्य अवतारों की अपेक्षा इन दोनों की अधिकता कहकर "हे सुव्रते ! पहले श्रीरामजी के चरित्र हम आप से कहते हैं जिसके स्मरणमात्र से पापी प्राणी भी मुक्त हो जाते हैं" इस कथन से प्रथम श्रीरामजी का चरित्र वर्णन किया गया है अतः श्रीरामजी अत्यन्त अभ्यर्हित (पूज्य) हैं, यह सिद्ध होता है। अतएव श्रीशंकरजी ने पार्वती के प्रति श्रीराममंत्र का उपदेश करके श्रीरामशत नाम कहा और रकारादि नामों में अपनी अधिक प्रीति भी दिखलायी इसलिये श्रीरामजी में सर्वोत्कृष्टता है, यही स्वयंभगवत्ता से पूर्णता कही जाती है।

रकारादीनि नामानि श्रृण्वतो मम पार्वति । मनः प्रसन्नतामेति राम नामाभिशंकया ॥

रकारादि रथ-राजा-राशि-रज-रङ्ग आदि नामों को सुनकर मेरा मन प्रसन्न हो जाता है। हे पार्वति ! जब कोई 'र' बोलता है तब मैं समझता हूँ कि अब यह 'म' कहकर मेरे प्यारे प्रभु का नाम सुनावेगा परन्तु जब वह राम नाम नहीं लेता तब बड़ा दुख होता है, इसी लिये शिवजी को शीघ्र प्रसन्न करने के लिये भक्तजन श्रीराम नाम सुनाते हैं, संकीर्तन करते हैं।

अन्यत्रापि पूर्णत्वं यथागस्त्यसंहितायां - "रघुनाथः स्वयं तन्त्र प्रसन्नो भगवान् भवेन (अगस्त्यसंहिता ११।१९) तत्र स्वयं भगवान् रघुनाथः प्रसन्नो भवेदित्यन्वयः । तत्रैवाऽष्टविंशाध्याये - "चैत्रे मासि नवम्यांतु जातो रामस्स्वयं हरिः" (अ २८।१) स्वयं हरिः भगवान् । स्कान्देऽयोध्यामाहात्म्ये "कस्य सेवा च नो भव्या यस्यां साक्षाद्धरिः स्वयम्" तत्रैव स्वर्गद्वारमुद्दिश्य "चतुर्धा च तनुं कृत्वा देव देवो हरिस्स्वयम् । अत्रैव रमते नित्यं भ्रातृभिः सह राघवः ॥" अत्राऽपि स्वयं हरिर्भगवान्, कोशलखण्डे - "तद्गृहे भगवान् साक्षात्स्वयं रामः स्वरूप धृक्" अत्र स्वयं भगवान् रामः तद्गृहे साक्षात्स्वरूप धृक्, इत्यन्वयः ।"

दूसरी जगह भी श्री रामजी का पूर्णत्व प्रतिपादन किया गया है जैसे अगस्त्य संहिता में - रघुनाथः स्वयं तत्र प्रसन्नो भगवान भवेत्" यहाँ पर "स्वयं भगवान रघुनाथजी प्रसन्न होते हैं" ऐसा अन्वय किया जाता है। वहीं पर अट्ठाइसवें अध्याय में - "चैत्र मास की नौमी को स्वयं हरि श्री राम रूप से अवतीर्ण हुए" यहाँ पर स्वयं श्री हरि भगवान को ही श्री राम कहते हैं। स्कान्दोक्त अयोध्या माहात्म्य में "हम लोगों के लिये किसकी सेवा सुन्दर है ? "इसका उत्तर - जिसमें साक्षात् श्री हरि स्वयम् प्रकट हैं" कहा गया है। वहीं पर स्वर्गद्वारको उद्देश्य कर कहा है कि देवों के भी देव स्वयं हरि भगवान अपने चार रूप बना कर अयोध्या में भ्राताओं के सहित नित्य ही रमण करते हैं। यहाँ पर भी 'स्वयं हरि भगवान' ऐसा ही अन्वय है। तथा कोशलखण्ड में साक्षात स्वयं भगवान राम उसके घर में स्वरुप धारण किये" यहाँ भी "स्वयं भगवान रामः तद्गृहे साक्षात्वरुपधृक" ऐसा ही अन्वय समझना चाहिये ।

"श्रीभागवतेऽपि नवमे "कथं स भगवान् राम्रो भातृन् वा स्वपमात्मनः । तस्मिन्वातेऽन्ववर्तन्त प्रजापौराश्च ईश्वरे" (९।११।२४) अस्यार्थः सस्वयं भगवान् रामः भ्रातृन प्रति कथं अन्ववर्तत ते भ्रातरस्तस्मिन रामे कथमन्ववर्तन्त इति तत्रैव- "भगवानात्मनात्मानं रामउत्तमकल्पकैः (९।११।१) इत्यत्र आत्मना इति पदं स्वयं पद समानार्थकम् । "स्वे ज्ञाना वात्मनि स्व" इति कोषात्। तथा च आत्मना भगवान् रामः प्रत्यन्वयेन स्वयं भगवान रामः इत्यर्थः । स्व शब्देनानन्याधीन स्वरूपस्य बोधात् । तत्रैव "तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्म मयो हरिः । अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः । (९।१०।२) इत्यत्रापि साक्षात्पदं पूर्ववत् ।

श्रीमद्भागवत के नवम कंध में "भगवान स्वयं श्री रामजी अपने भ्राताओं के विषय में कैसा बर्ताव करते थे ? अथवा भ्रातागण और पुरवासियों का ईश्वर श्री रामजी से कैसा बर्ताव था ?" यह आया है, (भागवत के इस श्लोक का अर्थ तत्त्व प्रकाशकार ने स्वयं इस प्रकार लिखा है कि) वह स्वयं भगवान् श्री रामजी भ्राताओं के साथ कैसा वर्ताव करते थे और वे भ्राता श्री रामजी में कैसा वर्ताव करते थे ? उसी स्थान पर भगवान् श्री रामजी उत्तम कल्प (यज्ञों के) द्वारा अपनी आत्मा से आत्मा का यजन किया, यहाँ पर 'आत्मना' यह पद स्वयं पद का समानार्थक है क्योंकि स्व पद का प्रयोग कोषकार ने धन-ज्ञाति और आत्मा में किया है। तब पूर्ण श्लोक का अन्वय इस प्रकार से होगा कि- "आत्मना भगवान् रामः" ऐसा करने से "स्वयं भगवान रामः" "यह अर्थ हो जाता है । स्व शब्द से अनन्याधीन स्वरूप का बोध होता है। उसी जगह "तस्यापि भगवानेष" इस श्लोक में भी 'साक्षात्' पद पूर्व की तरह समझना चाहिये । (इस श्लोक का विचार ग्रंथकार केचित्त करके आगे कहते हैं)।

अत्र केचित् - "अंशानां समूह आंशः अंशाश्च आंशश्च अंशांशः तेन अंशांशेन" अंशैः लक्ष्मण भरत शत्रुघ्नरूपेण अंश समूहेन श्रीरामस्वरूपेण चतुर्धागात्, चतुष्ट्वं प्राप्त इति, अन्येतु अंशानां इनः स्वामी अंशीत्यर्थः, अंशाश्च अंशेनश्च ते अंशांशेनाः तैः चतुर्धा अंशांशेन चतुर्धा

सन् हरिः श्री रामचन्द्रः पुत्रत्वमगात् प्राप्त इति, अंशांशिरूपेण चतुर्धाभवनं यथाश्रुतेऽर्थे स्वयं भगवत्त्व बोधक वाक्यानां वैयर्थ्यापत्तिरेकशेषापत्तिश्च ।

यहां पर इस श्लोक का अर्थ कोई-कोई इस प्रकार भी करते हैं कि अंशों के समूह का नाम है आंश, अंश और आंश मिलकर 'अंशांश' बना है। जिसका अर्थ यह होता है कि अंश माने लक्ष्मण भरत-शत्रुघ्न इनके समूह से युक्त श्री रामजी अपने स्वरूप से चार प्रकार होकर प्राप्त हुए। दूसरे कोई अर्थ करते हैं कि - अंशों के 'इन' माने स्वामी को अंशेन' कहते हैं, अंश और अंशेन मिलकर 'अंशांशेन' हुआ, इस प्रकार भगवान् चतुर्धा होकर श्री रामचन्द्रजी पुत्रत्व को प्राप्त हुए, अर्थात् अंशांशी रूप से चार प्रकार हो गये । ऐसा अर्थ न कर यदि यथाश्रुत अर्थ ही करेंगे तब स्वयं भगवत्ता बोधक वाक्यों की वैयर्थ्यापत्ति वैयथ्य होगी और एकशेषापत्ति भी हो जायगी ।

अध्यात्म रामायणे--"रामो नारायणः साक्षात् ब्रह्मणा याचितः पुरा ।" अत्र साक्षात्पदं स्वयं पद समानार्थकम्, नारायणो भगवान्, तत्रैव वशिष्ठ वाक्यं "भवान्नारायणः साक्षात् जगतामादि कृद्विभुः" साक्षात् नारायणः स्वयं भगवान् इत्यर्थः तत्रैव "रामस्त्वमेव तु पुमान् पुरुषस्साक्षादीश्वरः" अत्र ईश्वरो भगवान् साक्षात् पदं स्वयं पद समानार्थकम् । तेन साक्षात् ईश्वरः स्वयं भगवान् इत्यर्थः । वाल्मीकीय रामायणे - "रामस्य पुरुषो लोके सत्यधर्म यशोगुणैः । समो न विधते कश्चिद् विशिष्टः कुत एव तु ॥" बालकाण्डे विश्वामित्र वाक्यं - "त्रिषु लोकेषु वै राम न भवेत्सदृशस्तव" श्रीमद्भागवतेऽपि-सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिरित्यत्र सर्वावतारगणनायां श्रीरामचन्द्रं नित्य सर्वाधिक्यबोधकं जयतीति पदोपादानम् "यस्याधिक समश्चात्र कापि नास्तीति निश्चयः। इति भागवताऽमृतेऽप्यधिक साम्य राहित्यं श्रीरामस्य उक्तम् । श्रीरामस्तवराजेच 'सुसंपूर्णम इत्युक्तम् पूर्णः सम्पूर्णः सुसंपूर्णः इत्यनेन परिपूर्णतमत्वमुक्तम् ।"

अध्यात्म रामायण में "रामो नारायणः" इस श्लोक में साक्षात् पद स्वयं पद समानार्थक होकर व्यवहार में लाया गया है, और वहीं वशिष्ठ वाक्य में "भवान्-नारायणः !" इस श्लोक में भी साक्षात् नारायणः" इस पद का स्वयं भगवान् यही अर्थ होगा और फिर भी उसी ग्रंथ में 'रामस्त्वमेव' इस श्लोक में "ईश्वर-भगवान साक्षात् आप ही हैं" यही अर्थ है, और यहां पर साक्षात्पद स्वयं पद समानार्थक है, वाल्मीकीय रामायण में - 'लोक में सत्य-धर्म यश-गुणों करके श्रीरामजी के समान दूसरा कोई भी पुरुष नहीं। तब विशिष्ट कहाँ से होगा ?" कहा है। बालकाण्ड में विश्वामित्रजी का वाक्य है कि 'हे श्रीरामजी ! तीनों लोकों में आपके समान कोइ नहीं है "अतःश्रीमद्भागवत में 'सीतापतिर्जयति' यहां सर्वावतारों की गणना में श्रीरामजी में नित्य सर्वाधिक्य बोधक 'जयति' पद का उपादान किया गया है, और भागवतामृत में भी "यस्याधिकसमश्चात्र" श्लोक द्वारा श्रीरामजी का अधिक एवं साम्य राहित्य निषेध दिखाया है। श्रीरामस्तवराज में भी "सुसम्पूर्ण" कहा गया है यहां पर पूर्ण-सम्पूर्ण-सुसम्पूर्ण इन पदों से परिपूर्णतमत्व श्रीरामजी का प्रतिपादन किया गया है।

ननु-ब्रह्मवैवर्ते "पूर्णो नृसिंहो रामश्च श्वेतद्वीप पतिर्विराट् । परिपूर्णतमो कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम् ॥" इत्यनेन श्रीरामस्य पूर्णत्वमुक्तम्, श्रीकृष्णस्य पूर्णतमत्वमुक्तम् तत्कथं इति चेत् उच्यते- "अत्र श्रीकष्ण सानिध्यात् राम शब्दो बलराम परः । तेन न श्रीरामस्य पूर्णत्वं किन्तु सुसम्पूर्णत्वमेव । गोपालतापिन्यामपि "योऽवताराणां मध्ये श्रेष्ठोऽवतारः को भवतीति प्रश्ने-यथप्यवतार पदेन सम्मुग्धरूपताऽस्ति अथापि "यत्र कृष्णस्त्रिभिः रामानिरुद्ध प्रद्युम्नैः समाहितः संस्थितोऽस्ति रुक्मिणया च सहितोऽस्तीत्यर्थक उत भूत श्रुत्या रामानिरुद्धप्रद्युम्ना एवात्र प्रश्नेऽवतार पद वाच्यत्वेन स्पष्टीकृताः । तेभ्य एव उत्कृष्टत्वं न तु दाशरथेः, रामादि मूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्नित्यत्र रामो बलरामः "रामः शस्त्रभृतामहम्" इत्यत्र रामः परशुरामः । शस्त्रभृतांमध्ये विभूतित्वेन कथनात् । यच्च ब्रह्माण्डे श्रीकृष्ण वाक्यं "सन्ति भूरीणि रूपाणि मम पूर्णानि षड्गुणैः । भवेयुस्तानि तुल्यानि न मया गोप रूपिणा ॥" इत्यत्र रूपाणीत्युक्तेः श्री कृष्ण प्रकाश भूतानि यानि रूपाणि तानि गोप रूपिणा मया तुल्यानि न भवेयुः इत्युक्तम्, न तु श्रीरामादि रूपाणीत्युक्तम् ।

इति श्री गालवाश्रम गाद्याधिपति मधुर रसाचार्य श्री १०८ श्रीमहाराज मधुराचार्य कृते श्रीरामतत्त्वप्रकाशे श्रीरामस्य स्वयं भगवत्त्व प्रतिपादन नाम द्वितीयोल्लासः ।

यदि कहो कि ब्रह्म वैवर्त पुराण में 'श्रीनृसिंह जी श्रीराम जी श्वेत द्वीप के पति और विराट् ये पूर्णावतार हैं और वैकुण्ठ, गोकुल में स्वयं श्रीकृष्ण जी परिपूर्णतम हैं, इस वाक्य से श्रीरामजी को पूर्ण कहा गया है और श्रीकृष्णजी को परिपूर्णतम कहा गया है तब श्रीराम जी को परिपूर्णतम कैसे कहते हैं ? तो सुनिये 'यह पर श्रीकृष्ण जी के सानिध्य (समीपता) से राम शब्द बलराम वाचक है, इससे श्रीराम जी की पूर्णता नहीं किन्तु परिपूर्णतमता ही है। गोपालतापिनी में भी 'अवतारों के मध्य में श्रेष्ठ अवतार कौन सा है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर करते हैं कि यदि अवतार पद से सम्मुग्ध (सन्दिग्ध) रूपता है तो भी जहां पर श्रीकृष्ण जी बलराम अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इन तीनों से युक्त होकर संहित है और श्रीरुक्मिणी जी के भी सहित हैं यह अवतार पद का अर्थ है, अथवा भूत श्रुति से श्रीराम श्री अनिरुद्ध और श्रीप्रद्युम्न ही यहाँ प्रश्न में अवतार वाक्यतयास्पष्ट किये गये हैं, उन से ही उत्कृष्टत्व का प्रश्न है, श्रीदाशरथि श्रीराम जी से नहीं । बलराम आदि मूर्तियों में कला नियम से ठहरे हैं, यहाँ पर राम पदवाच्य श्री बलराम जी हैं और 'रामः शस्त्र भृतामहम्' शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ, यहां पर राम पद से परशुराम जी गृहीत हैं, क्योंकि शस्त्रधारियों के मध्य में विभूतिरूप से परशुराम जी कहे गये हैं अतएव ब्रह्माण्ड पुराण में श्रीकृष्ण जी ने स्वयं कहा कि 'हमारे बहुत से रूप षड्गुणों से पूर्ण हैं तथापि वे सब गोप रूप हमारे समान नहीं हैं, यहां पर 'रूपाणि, यह बहुवचन कहने से श्रीकृष्ण जी के प्रकाश भूत जितने रूप हैं वे सब गोप गोपाल रूपी हमारे समान नहीं हो सकते हैं ऐसा कहा है, श्रीराम जी के रूपादि से श्रेष्ठता नहीं कही है इति ।

इति श्रीरामतत्त्व प्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्र पारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिधभाषाटीकायां द्वितीयोल्लासः ॥२॥

अथ तृतीयोल्लासः

अथ पूर्णत्व द्योतक लीलावतार कर्तृत्व प्रति पादकानि यथाऽगस्त्य संहितायां उत्तरार्धे, "यथा सर्वावताराणामवतारी रघूत्तमः । तथासत्स्रोतसां सौम्या पाविनी सरयू सरित् ॥" कोशल खण्डे - "सर्वावतारी भगवान् रामश्चतुर्भुजोऽभवत् श्रीभागवते "अस्मत्प्रसाद सुमुखः कलया कलेशः (२७/२२) इत्यत्र स्वयं तु कलानामीशः पूर्णः इति कला शब्दस्यावतार परत्वं, "योधत्ते सर्वभूतानामभावायोशती कला" इत्यत्रोक्तम् । सदा शिवसंहितायां श्री कृष्णमुपक्रम्य - 'येन वंशी कृता भावा यस्मिन्सर्व प्रतीयते । गोविन्द इति विख्यातो रामसत्ता विजृम्भितः "श्रीविष्णुपुराणे कृष्णं प्रति जाम्बवत्-वाक्यं - अस्मत्स्वामिना रामस्येव नारायणस्य सकल जगत्परायणस्यांशेन भवता भवितव्यम् (अंश-४-३-५३)

श्रीरामजी की पूर्णता के द्योतक प्रमाणों को निवेश करते हैं उसमें भी लीलामय अवतारों के कर्त्ता श्रीरामजी हैं इसके प्रति पादक वचन आगे दिये जाते हैं। जैसे अगस्त्य संहिता के उत्तरार्ध में - "जैसे समस्त अवतारों के अवतारी श्रीरघुनन्दनजू हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ नदियों में कारणीभूता परमपवित्रा सौम्या श्री सरयू नदी है" कोशल खण्ड में - "सर्वावतारी भगवान श्रीरामजी ही (द्विभुजसे) चतुर्भुज हो गये" श्रीमद्भागवत में भी "हमारे प्रसाद से सुमुख कलाओं के ईश अपनी कला से प्रकट हुए" यहां पर अपने तो कलाओं के ईश अर्थात् पूर्ण हैं, उपर्युक्त श्लोक में कला शब्द सकल अवतार परक है, क्योंकि "सब भूतों के अभाव के लिये जो अनेक कलाओं को धारण करते हैं" यहां पर कला शब्द का अर्थ अवतार है, तथा - सदा शिव संहिता में कृष्णजी को उपक्रम करके - जिसने सब भावों को अपने वशीभूत कर रक्खे हैं और जिसमें 'सब भावों की प्रतीति होती है, वह श्रीराम जी की सत्ता से बढ़े हुए 'गोविन्द' नाम से प्रसिद्ध हैं । विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण जी के प्रति जाम्बवान् का वाक्य है कि हमारे स्वामि श्रीरामजी के अंश जैसे श्रीनारायण हैं वैसे ही सकल जगत के परायण श्रीनारायण के आप अंश हैं।

पुरुषावतार कर्तृत्वं यथा - अध्यात्म रामायणे, "रामत्वमेवात्र पुमान् पुरुषः साक्षादीश्वरः" इति । गुणावतार कर्तृत्वं यथा तत्रैव - "विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थिति हेतुरेकस्त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीश विष्णू । सत्वाद्विष्णुमेवात्र पालकः सद्भिरुच्यते । लये रुद्रस्त्वमेवासि माया गुण विभेदत" इति, अतएव सर्वावताराणां श्रीरामचन्द्रावरणत्वं श्रूयते, सदाशिव संहितायां प्रथमेऽध्याये - रामचन्द्रधामोपक्रम्य "अवतारैर संख्यातैः प्रधानैर्दशभिस्तथा । वैदैः साङ्गोपनि षडैर्यज्ञैर्बहुविधैरपि ॥ सेव्यमान" इति शेषः, अयोध्येति प्राकर्णिकम् ।

पुरुषावतार का कर्तृत्व श्रीरामजी में है यथा अध्यात्म में कहा है, "हे श्रीरामजी ! यहाँ आप ही 'पुं' पद वाच्य साक्षात् ईश्वर एवं पुरुष हैं।" गुणावतार कर्तृत्व भी अध्यात्म रामायण से प्रमाणित होता है- "हे श्रीरामजी ! विश्व की सृष्टिलयस्थित्ति के हेतु एक आप ही हैं, आप ही अपनी त्रिगुणमयी

माया से ब्रह्मा शंकर और विष्णु होते हैं। सतोगुण से विष्णु होकर संसार का पालन करते हैं, माया के गुणों के भेद से लय करने में आप ही रुद्र हो जाते हैं, यह सज्जन लोग कहते हैं।" अत एव सब अवतार श्रीरामजी के आवरण में अल्प सुने जाते हैं। जैसे सदाशिव संहिता के प्रथमाध्याय में श्रीअयोध्यापुरी को उपक्रम करके कहा गया है कि - "असंख्यात अवतारों के तथा प्रधान दश अवतारों के एवं साङ्गोपाङ्ग उपनिषद् तथा वेदों के और बहुबिध यज्ञों के द्वारा अयोध्यापुरी सेव्यमान है।"

अथ हतारि मुक्ति दायकत्वं, रामायणोत्तर-काण्डे "ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन । ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्र क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः ।" अत्र श्रीकृष्णस्येति पाठेप्युपक्रमोपसंहाराभ्यां श्रीरामचन्द्रस्यैव हतारि मुक्ति दायकत्वं प्रतीयते । तथाहि उपक्रमे "एतदर्थ महाबाहो रावणेन दुरात्मना । विज्ञायापहृता सीता त्वत्तोमरण कांक्षया इति, उपसंहारे च "तेनापि च तदेवाशु कृतं सर्वमशेषतः । ये हता लोक नाथेन शार्ङ्गमानम्य संयुगे ॥ चक्रायुधेन देवेन तेषां वासस्त्रिविष्टपे । नहि यज्ञ फलैस्तात तपोभिर्नच संयमैः। न च दान फलैर्मुख्यै सलोक प्राप्यते सुखम् ।" अत्रोपक्रमोपसंहाराभ्यां श्वेतद्वीपमेव लोक शब्देन गृहीतम् । वाल्मीकीय - रामायणे युद्धकाण्डे गालवाश्रमस्थ पुस्तक पाठे मंदोदरी प्रति रावण वाक्यम् - विमुच्य त्वां च संसारं गमिष्ये मुक्तिवल्लभाम् । परानन्दमयीं शुद्धं सेव्यते या मुमुक्षुभिः ॥ तां गतिंतु गमिष्यामि हतो राघव संयुगे । प्रक्षाल्य कल्मषाणीह मुक्तिं यास्याभि दुर्लभाम् ॥ त्वां च राज्यं च संत्यज्य ममपुत्रो दिवं गतः । प्रतीक्षते च मां सोऽपि कथं तिष्ठामि भूतले ॥ मत्सुतो मुक्ततां प्राप्तः शरैः संतर्प्य लक्ष्मणम् । महेन्द्रस्य जितं धैर्यं वैकुण्ठेऽय भविस्यतीति ।”

अब रामजी अपने हाथ से मरे हुए शत्रुओं को मुक्ति देते हैं यह प्रतिपादन करते हैं, रामायण के उत्तर काण्ड में “चक्रधर त्रैलोक्यनाथ जनार्दन ने जिन जिनको मारे वे सब भगवान के लोक को सिधारे, अतः हे नरेन्द्र ! भगवान का क्रोध भी वरदान के तुल्य है।" यहाँ पर 'देवस्य' के बदले 'कृष्णस्य' पाठ मानने पर भी उपक्रम और उपसंहार से श्रीरामजी में ही मारे हुए शत्रुओं का मोक्षदायकत्व प्रतीत होता है। उपक्रम में "हे महाबाहो ! इसीलिये दुरात्मा रावण ने जानकर ही अपने हाथों मरने की इच्छा से श्रीजानकीजी का हरण किया", और उपसंहार में- "उनने भी जल्दी से उन सब बातों को कर डालीं, लोकनाथ चक्रधारी भगवान ने संग्राम में शार्ङ्ग धनुष खींचकर जिनको मारे उनका स्वर्ग में वास हुआ। जो लोक यज्ञ-तप-संयम और बड़े-बड़े दानों के फल से नहीं प्राप्त होता वह लोक भगवान् के हाथ से मरनेवाले सुखपूर्वक प्राप्त कर लेते हैं।" इन श्लोकों में उपक्रमोपसंहार से 'लोक' शब्द का अर्थ श्वेतद्वीप ही गृहीत हैं। गालवाश्रमस्थ पुस्तक के पाठानुसार वाल्मीकीय रामायण के युद्ध काण्ड में मन्दोदरी के प्रति रावण कहता है कि - "हे प्रिये मैं तुमको और संसार को छोड़कर मुमुक्षुओं से सेव्य परमानन्दमयी शुद्धा मुक्ति स्वरूपा नायिका के पास जाऊँगा । श्रीरामजी के संग्राम में हत होकर मैं उस गति को जाऊँगा, अपने

समस्त पापों का प्रक्षालन करके दुर्लभ मुक्ति को पाऊँगा। मेरा पुत्र मुझे तुमको और राज्य को त्यागकर स्वर्ग को चला गया, वह मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। मैं पृथिवी पर क्यों ठहरूँ ? जिसने इन्द्र के धैर्य को जीत लिया था वह मेरा पुत्र बाणों से लक्ष्मण का तर्पण करके मुक्ति को प्राप्त हो गया, इस समय वह वैकुण्ठ में होगा।"

अध्यात्म रामायणे युद्धकाण्डे नारद वाक्यम्- "एवं ब्रुवत्सु देवेषु नारदः प्राह सस्मितम् । शृण्वन्त्वत्र सुरा यूयं धर्मतत्व विचक्षणाः ॥ रावणो राघवं द्वेषादनिशं हृदि भावयन् । भृत्यैः सह सदा राम चरित्रं द्वेष संयुतः ॥ श्रुत्वा रामात्स्वनिधनं भयात्सर्वत्र राघवम् । पश्यन्ननुदिनं स्वप्ने राममेवानु धावति ॥ क्रोधोऽपि रावणायाशु गुरुवद् बोधकोऽभवत् । रामेण निहतश्चान्ते निर्धूताऽशेष कल्मषः ॥ राम सायुज्यमेवापि रावणोमुक्त बन्धनः ॥ (अध्यात्म यु. १९ । ८२-८६) इत्यनेन रावणस्य मुक्तिमुक्ता एवमन्येषामपि, पापिष्टो वा दुरात्मा परधन परदारेषु रक्तो यदि स्यान्नित्यं स्नेहाद्भयाद्वा हृदि रघुतिलकं भावयन् संपरेतः ॥ भूत्वा शुद्धान्तरङ्गो भवशतजनिताऽनेक दोषैर्विमुक्तः । सद्यो रामस्य विष्णोः सुरवरविनुतं याति वैकुण्ठमाद्यम् ॥ (अ. यु. ११ । ८७) इत्यनेन मुक्तिर्बोध्या ।

अध्यात्म रामायण के उत्तरकांड में वाक्य है कि - "इस प्रकार देवताओं के कहने पर नारदजी हँसकर बोले - 'धर्मतत्व के जाननेवाले हे देवताओ ! आप सब सुनिये, यह रावण द्वेष से श्रीरामजी की अपने हृदय में निरन्तर भावना करता हुआ और प्रेमयुक्त होकर अपने सेवकों के सहित सदा श्रीरामजी के चरित्र को सुनकर एवं श्रीरामजी के द्वारा अपना मृत्यु जानकर भय से सर्वत्र रामजी को देखता हुआ प्रतिदिन स्वप्न में भी श्रीरामजी का अनुधावन करता था । इसलिये रावण का क्रोध भी गुरु की तरह रामतत्त्व का बोधक हो गया और अन्त में रामजी के हाथ से मरकर अपने समस्त कल्मषों को धोकर समस्त बन्धनों से मुक्त होकर श्रीराम सायुज्य को प्राप्त हुआ।" इससे रावण की मुक्ति कही गई, उसी प्रकार अन्य राक्षसों की भी - "पापिष्ट-दुरात्मा परधनहारक परदारारत भी यदि कोई हो वह भी नित्य स्नेह अथवा भय से रघुतिलक श्रीरामजी की हृदय में भावना करता हुआ मृत्यु को प्राप्त होवे तो वह शुद्ध अन्तःकरण और अनेक जन्मों के जनित अनेक दोषों से मुक्त होकर सर्वव्यापक वरदान देनेवाले श्रेष्ठ देवों से नमस्कृत प्रभु के आदि वैकुण्ठ अर्थात् साकेत धाम को तुरन्त प्राप्त कर लेता है।" इन वचनों द्वारा मुक्ति कही गई है।

वाल्मीकीय रामायणे युद्धकाण्डे गालवाश्रमस्थ पुस्तक पाठे कुंभकर्णप्रति रावण वाक्यम् - "जानामि सीतां धरणी प्रसूतां जानामि रामं मधुसूदनं च । अहं च जाने त्वहमस्य वध्यस्तेना हृता मे जनकात्मजैषा ॥ न कामाच्चैव न क्रोधाद्धरामि जनकात्मजाम् ॥ निहतो गन्तुमिच्छामि तद्विष्णोः परमं पदम् ॥" इत्यादि । रामाश्वमेधे "दैत्या यस्य मनोहारि रूपं प्रधान मण्डले । पश्यन्तः प्रापुरेतस्य रूपं विकृति वर्जितम् ॥ योगिनो ध्यान निष्ठा ये ध्यात्वा यं योगमास्थिता । संसारभय निर्मुक्ता प्रयाताः परमं पदम् ॥ धन्योऽहमद्यरामस्य मुखं द्रक्ष्यामि शोभनम् । "इति च्यवन वाक्यम् ।" यदंघ्रिरजसापूता शिला जाता गताघिनी ।

काकः परं पदं प्राप्तो यद्बाण स्पर्शनात्खगः ॥ अनेके यस्य वक्त्राब्जं संख्ये वीक्ष्य पदं गताः । तवार्थे च गतप्राणा हरयो गर्भमागताः ॥ राम त्वया कृत प्राणा तारिता रावणी चमू ।" इति प्रह्लाद वाक्यम् ।

गलतागादी जयपुर के गालवाश्रमस्थ पुस्तक के पाठानुसार वाल्मीकीय रामायण युद्ध कांड में कुम्भकरण के प्रति रावण का वचन है कि - "मैं धरणीप्रसूता सीता जी को जानता हूँ, और मधुसूदन श्रीराम को भी जानता हूँ, एवं यह भी जानता हूँ कि मैं इन श्रीराम से मारा जाऊँगा, इसलिये श्रीजनकतनयाजी को हर लाया हूँ ॥ काम या क्रोध से मैं जानकी जी को हरण कर नहीं लाया हूँ, किन्तु रामजी के हाथ से मरकर उस परम वैष्णव पद को जाना चाहता हूँ।" रामाश्वमेध में "प्रधान मंडल में मनोहर श्रीरामजी के' रूप को देखते हुये दैत्य विकृति वर्जित श्रीरामजी के रूप को प्राप्त हुए। ध्याननिष्ठ योगस्थित योगीजन योग में जिस श्रीरामजी के रूप का ध्यान करके संसार भय से निर्मुक्त हुए और परम पद को प्राप्न हुए। आज मैं धन्य हूँ कि श्रीरामजी के परम शोभन उस मुख को देखूँगा । "यह च्यवन ऋषि का वाक्य है।" जिनके चरण रज से शिला (अहल्या) पवित्र हो गई और उसके पाप छूट गये, एवं जिनके बाण के स्पर्श से पक्षी काक भी परम पद को प्राप्त हुआ, तथा संग्राम में जिनके मुखारविन्द को देखकर अनेकों परम पद को प्राप्त हो गये। ऐसे आपके लिये ये सब वानर गर्भ में आये और गतप्राण भी हुए। हे रामजी ! आपने रावण की सेना को अपने बाणों से मारकर मुक्त किया है।" यह प्रह्लाद का वाक्य है।

पाद्मोत्तर खण्डे - "त्यक्त्वा तनु घोर रूपां दिव्यरूपा बभूवसा । जाज्वल्यमाना वपुषा सर्वाभरण भूषिता ॥ प्रययौ वैष्णवं लोकं प्रणम्य च रघूत्तमम् । इत्यत्र वैष्णवं लोकं प्राप्त्युक्त्यान् केवलं मुक्ति दातृत्वं किन्तु भक्ति दातृत्वमपि । एतद्गुणस्य न श्रीकृष्णे ह्यद्भुतत्वम् किन्तु श्रीरामेप्यस्ति । अचिन्त्य महाशक्तित्वादिकं तु बहुशः प्रसिद्धमस्ति विष्णु पुराणेऽपि "अयं हि भगवान कीर्तितश्च संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाऽपि अखिल सुरासुरादि दुर्लभं फलं प्रयच्छतीति (अंश ४-१५-१७) श्री रामकृष्ण नृसिंहानां हतारि मुक्तिदायकत्वमुक्तम् । अत्र पूर्वं "हिरण्यकशिपु रावणयोर्मुक्तिः किमितिन जाता ? शिशुपालस्य किमिति जातेति, मैत्रेय संशये पराशरेण समाहितम् यद्धिरण्यकशिपो विष्णुमित्येवं न मनस्यभूत किन्तु निरतिशय पुण्यजात संभूतमेतत्सत्वमित्येवं ज्ञानं स्थितं रावणस्य कामोद्रेकवशाज्जानकी समाशक्त चेतस्त्वेन हरौ चित्तासक्त्यभावात् केवलं मनुष्य इति ज्ञानं, न तु विष्णुरिति ज्ञानं, शिशुपालस्यतु पूर्वमनेकजन्म संवर्धित वैरानुबन्धस्तेन हरौ द्वेषासक्तिः, कामादीनामभावात्सर्वेषां नाम्नां तत्र सम्भवेन विष्णुत्वेन ज्ञानं, आक्रोशादिषु निरन्तरं कीर्तनं 'फुल्लपद्मदलामलाक्षं' इत्यादि रूपेण निरन्तर स्मरणञ्च, तेनान्तेऽयगत द्वेषादि दोषं ब्रह्मज्ञानं तेन मुक्तिर्जाता ।

पाद्मोत्तर खण्डमें "घोर रूप शरीर का त्याग करके दिव्यरूपा और देदिप्यमान शरीर वाली सम्पूर्ण आभरणों से भूषित होकर रघूत्तम श्रीरामजी को प्रणाम करके वैष्णव लोक को गयी। यहाँ

पर वैष्णव लोक की प्राप्ति कहने से श्री रामजी को केवल मुक्ति दातृत्व ही नहीं है किन्तु भक्ति दातृत्व भी है (यह सिद्ध होता है) यह गुण श्री कृष्ण में ही अत्यद्भुत है ऐसा नहीं किन्तु श्रीरामजी में भी है। अचिन्त्य महा शक्तित्वादिक दिव्य गुण तो श्रीरामजी में बहुधा प्रसिद्ध ही हैं, विष्णुपुराण में भी - यह भगवान द्वेषानुबंध से भी कीर्तित और संस्मृत होने पर सम्पूर्ण देव दैत्यों से दुर्लभ फल देते हैं। यह कहा गया है - इस गद्य में श्री राम, कृष्ण और नृसिंह इन तीनों को ही मारे हुए शत्रुओं का मोक्षदायिकत्व कहा है। पहले हिरण्यकशिपु और रावण की मुक्ति क्यों नहीं हुई ? शिशुपाल की ही क्यों हुई ? यह मैत्रेय के संशय करने पर पराशर ने समाधान किया कि हिरण्यकशिपु को प्रभु नृसिंह में यह विष्णु हैं ऐसा विचार नहीं था, किन्तु निरतिशय पुण्य से उत्पन्न हुआ कोई जीव विशेष है ऐसा ही ज्ञान रहा । और रावण को काम की प्रबलता से श्रीजानकीजी में समासक्त चित होने से एवं भगवान् में चित्त की आशक्ति न होने से रामजी केवल मनुष्य हैं ऐसा ज्ञान था, यह विष्णु हैं ऐसा ज्ञान नहीं था, परन्तु शिशुपाल को तो पहले अनेक जन्मों के बढ़े हुए वैरानुबन्ध के कारण भगवान में ही द्वेषासक्ति हो गई, कामादिकों का अभाव होने से सब नाम उन्हीं में संभव होने से विष्णु रूप से ज्ञान हो गया, पुकार ने आदि में भी निरन्तर उनका कीर्तन और "खिले हुए कमलदल के समान निर्मल नेत्रवाले भगवान् हैं" इत्यादि रूप से निरन्तर स्मरण किया, इससे अन्त में सब द्वेषादि दोष निकल गये और ब्रह्मज्ञान हो गया जिससे उसकी मुक्ति हो गई।"

यदि केवलं श्रीकृष्णस्यैव हतारि मुक्ति दायक त्वमङ्गीक्रियते तदा अनेक जन्मसंवर्धित वैरानुबन्धेत्यादि हेतूपन्यासो बाधितः स्यात् । ननु विष्णु पुराणे रामं भगवत्वेन रावणो न ज्ञातवान् अतस्तन्मुक्तिर्नाभूत किन्तु कृष्णावतारे भगवत्त्वेन ज्ञानान्मुक्तिरभूत इत्युक्तम् । रामायणे तु "जानामि रामं मधुसूदनेत्यादिना रामस्य रूप ज्ञानं रावणस्योक्तम् एतत्कथं संगच्छते ? अत्रोच्यते - रामायणीयो रावणः शप्ताभ्यां जय विजयाभ्यामन्यः तस्य

टिप्पणी - (१) यद्यपि 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ, 'गिरा अर्थ जल विचि सम, इत्यादि वचनों से श्रीसीताराम जी में परस्पर भेद नहीं है, श्री सीताजी में आसक्त चित्त होने से श्रीरामजी में भी आसक्त चित्त हो ही गया । किन्तु श्रीसीता जी में उसकी परमात्म बुद्धि नहीं थी, मनुष्य और जीव बुद्धि थी, अतः रावण मुक्त नहीं हुआ यह पराशर जी का तात्पर्य है ।

च तस्मिञ्जन्मनि मुक्तिः । शप्तयोस्तु तृतीय जन्मनि मोक्ष इति । एवं यदि न स्वीक्रियते तदा - पद्म पुराणोक्तस्ताटका मोक्षोऽध्यात्मरामायणोक्तो विराध मारीच कबन्धादीनां मोक्षश्च - बाधितः स्यात् । तस्माद्विष्णुपुराणोक्तो रावणः कल्पान्तरीयो अन्य एव ज्ञेयः । श्रीधरस्वामिभिरपि विष्णुपुराणटीकायां "सनकाद्यनुग्रहात्तृतीये जन्मन्येवावश्यं भावित्वात् मोक्षस्य तत्रैव च तद्धेतुमाहेत्युक्तम् । 'तेन तेषामपि मते शापवशादेव पूर्व जन्मन्येतादृशं ज्ञानं न जातं तृतीये जन्मन्येव तज्जातम् । तथा च येषां शापादिकं मोक्ष प्रतिबन्धकमस्ति तेषामेतादृशं ज्ञानं न संभवति, येषां तन्नास्ति तेषां तु सद्य एव तादृश

ज्ञानोत्पत्या मुक्तिः । अतएव कालनेम्यादौ भगवल्लीला सिद्धयर्थं शापादि प्रतिबंधकंमुक्ता वङ्गी कर्तव्यम् ।

यदि केवल श्रीकृष्ण भगवान को ही मरे हुए शत्रुओं को मुक्ति देने वाले स्वीकार करेंगे तब तो "अनेक जन्मों से बढ़ा हुआ वैरानुबन्ध" , इत्यादि किया हुआ हेतुकान्यास बाधित हो जायगा । यदि कहें कि विष्णुपुराण में तो रावण ने श्रीरामजी को भगवान करके नहीं जाना इसीलिये उसकी मुक्ति नहीं हुई किन्तु कृष्णावतार में भगवान रूप से उसको ज्ञान हुआ अतः मुक्ति हो गई यह कहा गया है। और श्रीरामायण जी में तो "जानामि रामं मधुसूदनम्" इस कथन से उसको श्रीरामजी के स्वरूप का ज्ञान था यह कहा गया है तो ये दोनों ग्रंथ कैसे समन्वित होंगे ? इसका समाधान इस प्रकार से है कि रामायण का रावण शापित जय और विजय से भिन्न है उसको उसी जन्म में मुक्ति हो गई, और शापित जय विजयों का तीसरे जन्म में मोक्ष हुआ ऐसा ही स्वीकार करना होगा । यदि ऐसा नहीं स्वीकार करेंगे तो पद्मपुराणोक्त ताटका का मोक्ष और अध्यात्म रामायणोक्त विराध मारीच, कबन्ध आदिकों का मोक्ष बाधित हो जायगा अतः विष्णुपुराणोक्त रावण कल्पान्तरीय दूसरा है ऐसा जानना चाहिये । श्रीधरस्वामी जी ने भी विष्णुपुराण की टीका में 'सनकादि महार्षियों के अनुग्रह से तीसरे जन्म में ही अवश्य इनका मोक्ष होना निश्चित है, वहाँ पर ही इसका हेतु कहा गया है, ऐसा कहा है, इससे श्रीधरस्वामीजी के मत से भी शाप के कारण पूर्वजन्म में इस प्रकार का ज्ञान नहीं हुआ, तीसरे जन्म में ही वैसा ज्ञान हुआ, इसी प्रकार जिनको शापादि रूप मोक्ष का प्रतिबन्ध है उनको ऐसा ज्ञान (भगवत्स्वरूप का ज्ञान) नहीं होता, और जिनको ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है उनको तुरन्त तादृश ज्ञान हो जाने से मुक्ति हो जाती है। अतएव कालनेमि आदि को भगवल्लीला सिद्धि के लिये शापादि रूप प्रतिबन्ध मुक्ति में स्वीकार करना होगा ।

एवं श्रीकृष्णेन हतस्यापि नरकासुरस्य मोक्षो न जातः किन्तुकर्णे आवेशो, महाभारते वन पर्वणि दुर्योधन प्रायोपवेशे - हतस्य नरकस्यात्मा कर्ण मूर्तिमुपाश्रितः । तं वैरं संस्मरन्वीर योत्स्यते केशवार्जुनौ" (२५२-२०) इत्यनेनोक्तः । सोऽपि भगवल्लीला सिद्धयर्थमेव ज्ञेयः । यथा "सयैःस्पृष्टोभि दृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा । कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः (९११/२२) इति भागवत वचनेन श्रीरामदर्शनेन मुक्तिः एवं श्री कृष्ण दर्शन एव मुचुकुन्दस्य मुक्तिरपेक्षिता सा तद्दर्शन जातेऽपि न जाता किन्तु जन्मान्तरे जाता, जन्मान्तरञ्चात्र तस्मिन्नेव देहे विश्वामित्रवज्ज्ञेयम्। जन्मन्यनंतर इत्युक्तेस्तत्रापि बीजम् भगवल्लीलैव, किञ्च मैत्रेय प्रश्न एव श्रीराम नृसिंहयोः हतारि मुक्ति दायकत्वे प्रमाणम्, अन्यथा एतद्द्वय कर्तृक मुक्तेर्नरशृङ्गायमानतया रावण हिरण्य कशिप्वोः कथं न मुक्ति इति प्रश्नस्य तदुत्तरस्य चासङ्गततापत्तेः तस्मादस्ति सर्वेष्ववतारेष्व हतारि मुक्ति दायकत्वम् ।

इस प्रकार श्रीकृष्ण से मारे गये नरकासुर का मोक्ष नहीं हुआ, किन्तु कर्ण में उसका आवेश हुआ, महाभारत के वनपर्व में दुर्योधन प्रायोपवेश प्रकरण में "मरे हुए नरकासुर के आत्मा ने कर्ण की मूर्त्ति का आश्रय किया और उस वैर का स्मरण करता हुआ हे वीर ! श्रीकृष्णार्जुन के साथ युद्ध करेगा।" यह कहा गया है, यह भी भगवल्लीला की सिद्धि के लिये ही जानना चाहिये । क्योंकि "श्रीरामजी को जिन्होंने स्पर्श किया देखा उनके साथ बैठे अथवा पीछे चले वे सभी कोशलवासी उस स्थान को प्राप्त हुए जहाँ योगीजन जाते हैं।" इस भागवत के वचन से श्री रामजी के दर्शन से मुक्ति होती है यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन होने पर मुचुकुन्द की मुक्ति हो जानी चाहिये थी सो उनके दर्शन होने पर भी न हुई, किन्तु जन्मान्तर में हुई, जन्मान्तर भी यहाँ उसी देह में विश्वामित्र की तरह जानना चाहिये, क्योंकि 'अनन्तर जन्म' ऐसा कहा गया है, वहाँ भी इसका कारण भगवल्लीला ही है, इस विषय में मैत्रेय का प्रश्न ही श्रीराम और श्रीनृसिंह के हाथ से मरे हुए शत्रुओं के मुक्ति देने में प्रमाण है, यदि ऐसा न होता तो इन दोनों की मूर्त्ति पुरुष-श्रृंग के समान असम्भव होने से 'रावण और हिरण्यकशिप की मुक्ति क्यों न हुई' यह प्रश्न और उत्तर असंगत हो जायगा इसलिये सभी अवतारों में मारे हुए शत्रुओं की मुक्तिदायकता सिद्ध होती है।

अतएव "हतारिस्वगति प्रदः" इति वल्लभाचार्यकृत पुरुषोत्तम सहस्रनाम्नि "अनन्त कीर्तिः पुण्यात्मा पुण्य श्लोकैकभास्करः । कोशलेन्द्रः प्रमाणात्मा सेव्यो दशरथात्मजः ॥ लक्ष्मणो भरतश्चैव शत्रुघ्नो व्यूह विग्रहः । विश्वामित्र प्रियो दान्तस्ताटका वध मोक्षदः ॥" इति राक्षस्यै निस्साधनं मोक्षं दत्तवानित्यर्थः इति टीका च ।

अतएव "मारे हुए शत्रुओं को स्वगति प्रदान करने वाले हैं' ऐसा श्रीवल्लभाचार्य जी कृत पुरुषोत्तम सहस्र नाम में भी आया है । "अनन्त कीर्ति-पुण्यात्मा-पुण्य श्लोकैक भास्कर-कोशलेन्द्र प्रमाणात्मा-दशरथनन्दन-श्रीराम जी सेव्य हैं। एवं श्रीलक्ष्मण- भरत-शत्रुघ्नादि व्यूह विग्रह सेव्य हैं और विश्वामित्र प्रिय-दान्त-ताड़का को मारकर मोक्ष देने वाले हैं ।" इसकी टीका में भी "राक्षसी के लिये निस्साधन मोक्ष देने वाले हैं" ऐसा लिखा है ।

अथ गुण माहात्म्यं पद्मपुराणे - "रामकृष्णावतारौ तु परिपूर्णो निजैर्गुणैः । उपास्यमानावृषिभिरित्यन्वयः । तेनोपासना विशेषप्रयोजकाऽसाधारणगुणत्वं द्वयोरभिहितं भवति । नह्यप्रकटित गुणस्योपासना संभवति । रामायणे बालकाण्डे - "स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्द वर्धनः (१-१७)" अयोध्या काण्डे - रामस्य पुरुषो लोके सत्यधर्म यशोगुणैः । समो न विद्यते कश्चिद्विशिष्टः कुत एव तु ।

इति श्रीगालवाश्रम गाद्याधिपति मधुर रसाचार्य श्री १००८ श्रीमधुराचार्य कृते श्रीरामतत्त्व प्रकाशे पुरुषावतारादि कर्तृत्वं नाम तृतीयोल्लासः ॥३॥

अब गुण माहात्म्य कहते हैं - पद्मपुराण में "श्रीराम और कृष्ण अवतार दोनों ही अपने अपने गुणों से परिपूर्ण हैं । तथा ऋषियों से उपास्यमान हैं" इस वाक्य से उपासना विशेष के प्रयोजक असाधारण गुण दोनों में ही हैं। जिसके गुण प्रकट नहीं हैं उसकी उपासना करना असभंव है, श्री वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड में - कौशल्यानन्द वर्धन श्री रामजी सर्वगुणों से परिपूर्ण हैं, और अयोध्याकाण्ड में - श्री रामजी के सत्य-धर्म-यश गुणों की समता करने वाला लोक में कोई भी पुरुष नहीं है तो विशिष्ट तो कहाँ से हो सकता है। ऐसा कहा है ।

इति श्रीरामतत्त्व प्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपाराङ्गत जगदुद्धारक पं० श्री रामवल्लभाशरणाश्रितेन श्रीअखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिध भाषाटीकायां तृतीयोल्लासः ॥३॥

अथ चतुर्थोल्लासः

अथ रूपमाहात्म्यम् उत्तर तापिन्यां तत्रोक्त श्रुतेरर्थः "भगवानद्वयानन्दः श्रियानन्दात्मा परब्रह्मैत्यादिभिरुक्तएव । पाद्मोत्तर खण्डे - सा च दृष्ट्वा रघुवरं कोटि कन्दर्प सन्निभम् । इन्दीवर दलश्यामं पद्म पत्रायतेक्षणम् ॥ प्रोन्नतांशं महाबाहुं कम्बुग्रीवं महाहनुम् । सम्पूर्ण चन्द्र सदृशं सस्मितानन पङ्कजम् । भृङ्गावलिनिभैः स्निग्धैः कुटिलैः शीर्षजैर्वृत्तम् । रक्तारविन्द सदृश पादहस्ततलाङ्कितम् । निस्कलङ्केन्दुसदृश नखपङ्क्ति विराजितम् । जानकी हृदयानन्दं जगन्मोहन विग्रहम् ॥ दृष्ट्वातं राक्षसी रामं कन्दर्प शरपीडिता । "तत्रैव - कौशल्या जनयामास पुत्रं लोकेश्वरं हरिम् । इन्दीवरदलश्यामं कोटि कन्दर्प सन्निभम् ।" इत्यादि ।

अब इस चतुर्थ-उल्लास में रूपादि माहात्म्य दिखाते हैं। उत्तर तापिनी में रूपोत्कर्ष प्रतिपादिका श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है कि "भगवान् अद्वयानन्द हैं, श्री को भी आनंन्द देने वाले विग्रह से युक्त परब्रह्म हैं।" एवं पाद्मोत्तर खंड में इस प्रकार वर्णन आता है कि "कोटि कन्दर्पों के समान, नील कमल के समान श्यामसुन्दर, कमलदललोचन, ऊंचे स्कंधवाले, लम्बी भुजायें, कम्बुग्रीव, महाहनु, पूर्णिमा के चन्द्र की भाँति मंद मुस्कान सहित एवं भ्रमर पङ्क्ति के समान चिकने और कुटिल केशों से आवृत मुखारविन्द, अरुण कमल के सदृश चरण और हस्ततलवाले, निष्कलङ्क चन्द्र की भाँति नखों की पंक्तियों से सुशोभित श्रीजानकी जी के आनन्द के वर्द्धक जगन्मोहन विग्रहवाले रघुनन्दन श्रीरामजी को वह राक्षसी देखकर कन्दर्प शर से पीड़ित हुई।" तत्रैव - "लोकेश्वर इन्दीवरदल सदृश श्यामसुन्दर-कोटि कन्दर्प सन्निभ पुत्र को श्रीकौशल्या जी ने प्रकट किया ।" इत्यादि ।

श्रीवाल्मीकीय रामायणे "चन्द्र कान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनं । रूपौदार्य गुणैः पुसां दृष्टिचित्तापहारिणम् (वा० अ० स० ३ श्लो० २८) तत्रैव सुन्दर काण्डे - "रूपवान् सुभगः श्रीमान् कन्दर्प इव मूर्तिमान् ।" (वा० सु० ३४-३०)। रामाश्वमेधे - "यत्र क्वचिद् वस्तु जातं सर्वशोभा समन्वितम् । तस्य दातारमखिलं भक्तानां भोग संयुतम् ॥"

श्रीवाल्मीकीय रामायण में - "अतीव प्रिय दर्शन चन्द्रमा के सदृश प्रिय मुखारविन्दवाले रूप औदार्य और गुणों से पुरुष मात्र के दृष्टि चित्तापहारक (श्रीरामजी हैं) वहीं सुन्दरकांड में "श्रीरामजी-रूपवान्-सुभग-श्रीमान् और मूर्त्तिमान् कन्दर्प के समान हैं" रामाश्वमेध में - "सर्व शोभा समन्वित जहाँ भी कोई वस्तुजात है उसके देनेवाले सम्पूर्ण भक्तों के भोग से युक्त श्रीरामजी हैं।" अथ यशो माहात्म्यम् - वाल्मीकीय उत्तरकाण्डे "आदिकाव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । नह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशो भाग राघवादृते ॥" (वा० उ० ९८/१८)

अब यश माहात्म्य कहते हैं - "हे श्रीरामजी ! यह आदिकाव्य सब आप ही में प्रतिष्ठित है, क्योंकि आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी काव्यों के यश का भागी नहीं हो सकता ।"

अथ धाम माहात्म्यम् - पाद्मोत्तर खण्डे - "परमव्योमैवायोध्यारूपेणात्र प्रादुर्भूतम् । तस्या आवरणे दशावतारलोकानां वर्णनं कृतम् । तत्र सिद्धान्तो यथा - गोलोक वृन्दावनयोस्तत्रत्य भगवत्प्रकाशयोश्च एवं परमव्योमायोध्ययोः श्रीराम प्रकाशयोश्च बोध्यः । चतुर्भुजत्वमपि यथा तत्रास्ति एवं अयोध्यायां श्री रामध्यानेप्यस्ति - "अयोध्या नगरे रम्ये" इत्यादि ।

अब धाम माहात्म्य कहते हैं - पाद्मोत्तर खण्ड में - "परम व्योम ही अयोध्या रूप से यहाँ प्रादुर्भूत हुआ, उस श्रीअयोध्या के आवरण में दश अवतारों के लोकों का वर्णन किया है।" उसमें सिद्धान्त यह है कि गोलोक और वृन्दावन का तथा तत्रत्य श्रीभगवान् के प्रकाश में जैसे बोधन किया गया है वैसे ही परमव्योम और अयोध्या में एवं तत्रत्य श्रीरामजी के प्रकाश में भी समझना चाहिये । चतुर्भुजता भी जैसे वहाँ है वैसे ही अयोध्या में भी श्रीरामजी के ध्यान में समझनी चाहिये 'अयोध्या नामक रमणी नगर में, इत्यादि ध्यान का वर्णन है।

ननु श्रीरामावरणेऽवतार लोकानामावरणं द्वितीयमुक्तम् । तत्र 'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः । रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की चते दश" इत्यनेन नवमस्य श्रीकृष्णलोकस्य ब्रह्मदिशि सन्निवेशेन श्रीकृष्ण धाम्नः श्रीराम धामापेक्षयाऽधिक्यमस्तीति चेदुच्यते - "श्रीरामावरणे रामलोकस्यावरण मध्ये निवेशाऽसम्भवेन बलरामस्य" सत्याच्युतानां तद्दुर्गाविष्वक्सेन जनार्दना", इत्यनेन चतुर्थावरणे निवेशाच्च श्रीकृष्णस्य नवमत्वाभावस्तेन तल्लोकस्योर्ध्व दिशायामसम्भवः । तथा च श्रीरामस्य बलरामस्य चान्यत्र स्थितत्वादष्टानां मत्स्यादीनामष्टसु पत्रेष्वेव सन्निवेशो ज्ञेयः । किंच मत्स्यः कूर्मो वराहश्चेत्ययंश्लोक आवरण परिगणन प्रकरणे नोक्तः, किन्तु 'मत्स्य कूर्मादिलोकस्त्वित्याद्यावरण - मात्रमुक्तम्, तस्मादूर्ध्वदिशायां सन्निवेशो न सम्भवति । यद्यपीशान पूर्वयोर्मध्ये नवमी ब्रह्मदिगस्ति, अथापि पूर्वोक्तप्रकारेणात्राष्टसंख्याया एव विद्यमानत्वादष्टपत्रेष्वेव सन्निवेशो ज्ञेयः । बहुषु पुस्तकेषु 'रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश' इत्यादि रूप एवं पाठोऽस्ति, तस्मिन पाठे तु कृष्णस्याष्टमत्वमेवायाति । विस्तरस्तु कृष्णसन्दर्भसङ्गतौ द्रष्टव्यः ।

यदि कहो कि श्रीरामजी के आवरण देवताओं में अवतार लोकों का द्वितीय आवरण कहा गया है वहाँ पर 'मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, राम, राम, राम, कृष्ण, कल्की ये दश अवतार है। इस वाक्य से नवम श्रीकृष्ण लोक का ब्रह्म दिशा (पूर्व और ईशान के मध्य) में सन्निवेश होने से श्रीरामधाम की अपेक्षा श्रीकृष्णधाम की अधिकता है, ऐसा यदि कहें तो उत्तर देते हैं कि श्रीरामजी के आवरण देवताओं में श्रीरामजी के लोक का आवरण के मध्य में सन्निवेश होना सम्भव नहीं होने से और श्रीबलरामजी का 'सत्याच्युतानां' इस वाक्य से चतुर्थ आवरण में निवेश होने से

श्रीकृष्ण भगवान का नवम लोक हो ही नहीं सकता, अतः उनके लोक का ऊर्ध्व दिशा में होना असम्भव ही है। इससे यह आया कि श्रीरामजी और श्रीबलराम जी की अन्यत्र स्थिति होने से मत्स्यादि आठों का अष्ट पत्रों में सन्निवेश जानना चाहिये। किंच 'मत्स्यः कूर्मो वराहश्च' यह श्लोक आवरणों की परिगणना करने वाले प्रकरण में नहीं कहा है किन्तु 'मत्स्य कूर्मादिलोकास्तु' इत्यादि वाक्य से आवरणमात्र कहा गया है, इसलिये ऊर्ध्व दिशा में सन्निवेश नहीं हो सकता है। यद्यपि ईशान और पूर्व के मध्य में नवमी ब्रह्मदिशा है तथापि पूर्वोक्त प्रकार से यहाँ आठ ही संख्या है, अतः अष्ट पत्रों में ही सन्निवेश जानना । तथा बहुत सी पुस्तकों में 'रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश' इस प्रकार का ही पाठ मिलता है । इस पाठ में तो कृष्ण जी को अष्टमत्व स्वतः ही आ जाता है, यह संक्षेप से दिखाया, विस्तार से देखना हो तो श्रीकृष्णसन्दर्भ संगति में देखना चाहिये ।

शिवसंहितायां - "मथुरायाः पुरः सर्वाऽयोध्या पुर दासिकाः । अयोध्यामेव सेवन्ते प्रलयेऽप्रलयेऽपि च ॥ अयोध्यापतिरेवस्यात् पतीनां पतिरीश्वरः । अन्यासां मथुरादीनां रामांशाः पतयोयतः ।" (प० ५ अध्या० २ श्लो०१७) स्कन्दायोध्यामाहात्म्ये - "विष्णोराद्यापुरीसेयं क्षितिं न स्पृशति द्विज । विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्यांकुरक्षितिः ॥ अयोध्या सदृशी काचित् दृश्यते न परा पुरी । या न स्पृशति वसुधां विष्णुचक्रे स्थितानिशम् ॥ यथा मोक्षमिहाप्नोति ह्यन्यत्र न तथा क्वचित् । अतः प्रियतमं क्षेत्रं तस्मादिह गतिर्हरेः । कल्पमेकं वसन्विन्देन्मथुरां मानवोहि यत् । तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥" इत्यादि । तस्मादस्त्युत्कृष्ठत्वम् श्रीरामलोकस्य विस्तरस्तु कृष्णसंदर्भ सङ्गतौ दृष्टव्यः ।

शिव संहिता में- "मथुरादिक समस्त पुरियाँ भी अयोध्यापुरी की दासियां है और प्रलय एवं स्थिति काल में अयोध्या का ही सेवन करती हैं। अयोध्या पति ही पतियों के भी पति ईश्वर हैं, क्योंकि अन्य मथुरादिकों के पति श्री रामजी के अंशभूत हैं।" स्कन्दपुराणोक्त अयोध्या माहात्म्य में लिखा है कि "सर्वव्यापक परात्पर ब्रह्म की यह अयोध्या आद्यापुरी है, हे द्विज ! यह पृथ्वी का स्पर्श नहीं करती, क्योंकि भगवान ने अपने सुदर्शन चक्र पर स्थित रक्खा है, अतः यह पुण्य अंकुर की भूमि है। अयोध्या के सदृश दूसरी पुरी नहीं दीखती, जो पृथ्वी का स्पर्श नहीं करती क्योंकि निरन्तर विष्णुचक्र पर स्थित है। प्राणी इस पुरी में जिस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर लेता है उस प्रकार अन्य पुरियों में नहीं करता । अतः यह क्षेत्र भगवान को अति प्रियतम है। इसलिये यहाँ के निवासियों को भगवान् की गति प्राप्त होती है। मानव मथुरा में एक कल्प वास करता हुआ जिस फल को प्राप्त करता है वह फल श्री सरयूजी के दर्शन मात्र से ही प्राप्त करता है। इत्यादि । "अतएव श्री रामधाम सब से उत्कृष्ट है यह सिद्ध हुआ, विस्तार तो 'श्रीकृष्णसन्दर्भ सङ्गति' आदि में देखना चाहिये ।

अथ षोडशचरण चिन्हानि पूर्णत्व द्योतकानि तेऽभ्योप्यधिकानि प्रतिपाद्यन्ते । तथाहि पुराणे - "अष्टकोणः स्वस्तिकश्च छत्रं चक्रं तथाङ्कुशम् । येवोर्ध्वरेखां कुलिशं ध्वजं कमलमेवच ॥ वनमाली रत्न पीठः कल्पवृक्षः सतूणकः । उल्लसत्तिलयुग्मंच लिङ्गमध्यभगद्वयम् ॥ शंखो जम्बूफलं मत्स्यः सुधाकुम्भस्त्रिकोणकः । अर्धचन्द्रः षड्विन्दुश्च पूर्णचन्द्र स्त्रिरेखकः ॥ रेखावर्तस्तथा दण्डः खङ्गं गोष्पदमेव च । धनुश्च कुसुमंश्चैव महाराज परिच्छदम् ॥ अप्रमेयाऽद्वितीयस्य राघवस्य रमापते । महाषोडश चिह्नानि लक्ष्यन्ते पदयोरपि ।" पाद्मोत्तर खंडे - श्रीरङ्गशायिनं सौम्यमिक्ष्वाकुल दैवतम् । शंख - चक्र गदापद्म ध्वज वज्रादि चिह्नितम् ॥ अध्यात्म रामायणे - "सतत्र वज्राङ्कुश वारिजात ध्वजादि चिह्नानि पदानि सर्वतः ।" अगस्त्यसंहितायां अंकुशाकाश वज्राब्ज यव जम्बू फलानि च । ध्वजा धेनु पदं शंखः स्वस्तिकोर्ध्व शशी पुनः । ऊर्ध्वरेखा द्विरेखा च त्रिरेखा त्रिवली तथा । अवटं ऋतुकोणेन्दु धनुर्मीन सविन्दवः ॥ अष्ट कोणस्तथा चक्रं त्रिकोणश्च सुधा घटः । नृ विशेषातपत्रं च चिह्नानि पञ्चविंशति ॥ "अथ सीतारामयोः पद चिन्हानि - वनमालाङ्कुश स्तंभः पार्श्वश्चोत्पलमेव च । नगाष्टकं तथाष्टौ च वह्निपूरं त्रिशक्तिकम् ॥ सौगन्ध्य द्रव्यतापादौ शरमुन्नत कंचुकम् । तेजस्त्रयं गुणावर्तः स्वंजनः श्वेत मस्तकः । दिव्यानि चत्वारिंशच्च षड् चिह्नानि महामते । श्रीरामस्याद्वितीयस्य इष्टानिष्टौ विजानतः ॥ एतानि सुख सम्पत्यै सीतायाः पदयोरपि । इति,

अब अन्य अवतारों की अपेक्षा श्रीरामजी की श्रेष्ठता और पूर्णताद्योतक षोडश चिह्नों को प्रतिपादन करते हैं। पुराण में इस प्रकार चिह्नों का वर्णन है - "अष्टकोण-स्वस्तिक-छत्र-चक्र-अंकुश-यव उर्ध्व रेखा-कुलिश-ध्वज-कमल-वनमाला-रत्नपीठ-कल्पवृक्ष-तूणीर-तिलयुग्म-भगाकार अर्घा के मध्य में स्थित शिवलिङ्ग के दो चिह्न-शंख-जम्बूफल-मत्स्य-सुधाकुंभ-त्रिकोण-अर्धचन्द्र-षड्विन्दु-पूर्णचन्द्र-त्रिरेखा-गोलरेखा-दण्ड-खङ्ग-गोपद-धनुष-कुसुम-महाराज परिच्छद आदि अप्रमेय अद्वितीय रमापति श्रीराघव के दोनों चरणों में ये महाषोडश चिह्न दर्शित हैं।" पाद्मोत्तर खंड में - इक्ष्वाकु कुल के देवता श्रीरङ्गशायि भगवान् शंख-चक्र-गदा-पद्म-ध्वज-वज्र आदि चिह्नों से चिह्नित हैं। "अध्यात्म रामायण में लिखा है कि- "श्रीरामजी के चरण-कमल ध्वजा-अंकुश-कमल-वज्र आदि से सर्वतः चिह्नित हैं।" अगस्त्य-संहिता में भी चिह्नों का वर्णन किया गया है - अंकुश-आकाश-वज्र-कमल-जव-जम्बूफल-ध्वजा-गोपद-शंख-स्वस्तिक-पूर्णशशि-ऊर्ध्व रेखा-द्विरेखा-त्रिरेखा-त्रिवली-कल्पतरु-षट्कोण-इन्द्रधनुष-मीन-विन्दु-अष्टकोण-चक्र-त्रिकोण-पुरुषविशेष-छत्र ये पच्चीस चिह्न हैं। अत्यत्र भी श्रीसीताराम जी के चरण चिह्न इस प्रकार हैं, वनमाला-अंकुश-स्तम्भ-पार्श्व, उत्पल, नगाष्टक, तथा और भी अष्टचिह्न, अग्निकुण्ड, शक्ति आदि तीन चिह्न, सौगन्ध्य, द्रव्यतापाद, बाण, उन्नतकंचुक, तीन तेज (सूर्य, चन्द्र, अग्नि) गुणावर्त, स्वंजन, श्वेतमस्तक, हे महामते ! ये दिव्य ४६ चिह्न इष्ट अनिष्ट के ज्ञाता अद्वितीय श्रीरामजी के चरणों में हैं। ये सुख और सम्पत्ति के देनेवाले हैं तथा ये चिह्न श्रीसीता जी के श्रीचरणों में भी हैं।

अथ नाम माहात्म्यम्, "इत्येतद्वासुदेवस्य विष्णोर्नाम सहस्रकम्" इत्युपक्रम्य "त्वन्मयत्वात्प्रमादाद्वाशक्तास्मिन् पठितुं न चेत् । विष्णोः सहस्रनामैतत्प्रत्यहं वृषभध्वज ॥ नान्नैकेनतु येनैव तत्फलं ब्रूहि मे प्रभो ॥" इति पार्वत्याः प्रश्नेऽधिकाधिक नाममहिम स्फूर्तौ सर्वोर्ध्वभूमिकायां "रामेति" इयक्षरं नाम निर्धार्य प्रेमपरवशतया श्रीमहादेव उत्तरं प्राह "रकारादीनि नामानि शृण्वनो ममपार्वति । मनः प्रसन्नतामेति रामनामाभिशङ्कया ॥ रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामतत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥" अस्यार्थः - "हे मनोरमे ! राम रामेति अहं रमे, यतः रामनाम सहस्रनाम तत्तुल्यं भवति, सहस्र नामानि तन्यन्ते यत्र तानि सहस्रनाम तन्ति, तैः सहस्रनाम तद्भिः तुल्यं सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम इत्यर्थः । यद्वा - राम रामेति अहं रमे, यतः रामेति नाम मनोरमे रामे यानि सहस्रनाम स्तोत्राणि तत्तुल्यं भवति । तथाच - मनोरमे रामे यानि सहस्रनामानि तानि तन्यन्ते येषु तानि सहस्रनाम तन्ति, सहस्रनाम स्तोत्राणि, तैः सहस्रनामतद्भिः सहस्रनाम तत्तुल्यम् रामनाम, राम विषयकानेक सहस्रनामस्तोत्र तुल्यं रामेति नामेत्यर्थः । वक्ष्यमाण कोटि संख्या सम्पत्यनुरोधादत्रानेकत्वं दशत्व पर्यवसन्नंज्ञेयम् ।"

"यह वासुदेव विष्णुभगवान का सहस्रनाम है" ऐसा उपक्रम करके - "हे वृषभध्वज ! आपमें तन्मय होने से अथवा प्रमाद से इस विष्णु सहस्रनाम को प्रतिदिन पढ़ने में यदि मैं समर्थ न होऊँ तो जीभ एक ही नाम से इस सहस्रनाम के पाठ का फल मिल जाय उस नाम का हमें उपदेश करिये।" इस प्रकार पार्वती के पूछने पर अधिक अधिक नाम की महिमा स्फूर्त्ति होने पर सबसे श्रेष्ठ नाम की भूमिका में "राम" दो अक्षरवाला यह नाम सर्वश्रेष्ठ है ऐसा सिद्धान्त करके प्रेम परवश श्रीमहादेवजी ने उत्तर दिया कि "हे पार्वति ! रकारादिक नामों को सुनते हुए मेरा मन प्रसन्न हो जाता है कि यह राम-नाम कहेगा । ('राम रामेति' इस मंत्र का अर्थ मूल में ही इस प्रकार लिखा है) "हे मनोरमे ! राम-राम ऐसा मैं कहता हुआ सुखी होता हूँ, क्योंकि रामनाम सहस्त्रनाम के तुल्य है। अर्थात् सहस्रनाम विस्तार को जहाँ प्राप्त होवें उसको 'सहस्त्रनाम तत' कहते हैं ऐसे अनेकों सहस्रनामततियों के तुल्य श्रीरामनाम है। यद्वा-राम, राम, यह कहता हुआ मैं सुखी होता हूँ, क्योंकि राम यह नाम मनोरम श्रीरामजी में जितने भी सहस्रनाम स्तोत्र हैं वे सब तुल्य होते हैं, तत्र 'सहस्त्रनाम तत्तुल्यम्' इस पद की व्युत्पत्ति इस प्रकार से होगी - "मनोरम राम के विषय में जितने भी सहस्रनाम हैं वे जिनमें विस्तार को प्राप्त होवें उसको "सहस्रनामतन्ति कहते हैं, अर्थात् सहस्रनामस्तोत्र। उन सहस्रनामस्तोत्रों के तुल्य श्रीरामनाम है। तात्पर्य यह हुआ कि श्रीरामविषयक अनेक सहस्रनामस्तोत्रों के तुल्य श्रीराम यह दो अक्षर- वाला नाम है। यहाँ पर वक्ष्यमाण कोटि संख्या सम्पत्ति के अनुरोध से अनेक शब्द दश शब्द का पर्यवसायी है।"

तत्रैव पार्वत्युवाच - "सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम त्वयोदितम् । तस्यान्यान्यपि नामानि सन्ति चेद्रावणद्विषः ॥ कथ्यतां ममदेवेश तत्र मे भक्तिरुत्थिता । श्रीमहादेव उवाच - शृणु नामानि वक्ष्यामि रामचन्द्रस्य पार्वति ॥ लौकिकाः वैदिकाः शब्दा ये केचित् सन्ति पार्वति

। नामानि रामचन्द्रस्य सहस्रं तेषु चाधिकम् । तेषु चात्यन्त मुख्यं हि नाम्नामष्टोत्तरं शतम् । विष्णोरेकैक नामानि सर्व वेदाधिकानि च । तादृङ् नाम सहस्रेण रामनाम समं स्मृतम् ॥ जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति । तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं राम नाम्नैव लभ्यते ॥" अत्र एवकारादितरव्यावृत्तिः । विष्णुनामतः कोटि संख्या चेत्थं ज्ञेया, विष्णोरेकैक नामापि सर्ववेद पाठादधिकं-अधिक फलदं-अतः आधिक्यं चैकस्य दशगुणितत्वम् यत एकं दशेति गणनायां संख्यास्थानेषु एकानन्तरत्वेन दश संख्याया एव उपस्थितिरस्ति, तादृङ् नाम सहस्त्रेणेति सर्व वेदापेक्षया दशगुणित विष्णुनाम सहस्त्रेणैकैक रामप्रति पादक नाम समं यथा राघवादि नाम ।

वहीं पर पार्वती ने पूछा है कि - "सहस्त्रनाम के तुल्य आपने श्रीरामनाम को कहा है, उन रावणारि श्रीरामजी के और भी यदि नाम हैं तो हे देवेश ! हमसे आप कहिये, क्योंकि रामजी के विषय में हमारी भक्ति उत्पन्न हुई है। श्रीमहादेव जी बोले कि "हे पार्वति ! श्रीरामचन्द्रजी के नामों को मैं कहता हूँ सो सुनो ! लौकिक अथवा वैदिक जितने भी शब्द हैं हे पार्वति ! उन शब्दों की अपेक्षा श्रीरामजी के सहस्रनाम श्रेष्ठ हैं, उनमें भी अत्यन्त मुख्य अष्टोत्तरशत नाम हैं। विष्णु का एक-एक नाम सब वेदों से अधिक है, उनके ऐसे सहस्रनामों के तुल्य एक ही श्रीरामनाम है, सब वेद और सब मत्रों के जप करने से जो फल प्राप्त होता है हे पार्वति ! उससे भी कोटि गुणित पुण्य श्रीरामनाम से ही प्राप्त हो जाता है। यहाँ एवकार अन्य का व्यावर्तक है, विष्णु नाम से कोटि संख्या इस प्रकार जाननी चाहिये कि "विष्णु का एक-एक नाम सब वेद पाठों से अधिक फलप्रद है और एक का दशगुणित होना ही आधिक्य है क्योंकि "एकं-दश" इत्यादि जो संख्या की गणना की गई है वहाँ संख्या के स्थानों में एक के बाद दश संख्या की ही उपस्थिति है, "तादृङ्नाम सहस्रेण" इस श्लोक से सब वेदों की अपेक्षा दशगुणित विष्णुनाम हैं, तादृश विष्णु सहस्रनामों के तुल्य एक-एक रामप्रतिपादक नाम कहा गया है। जैसे राघवादि नाम हैं।

तदुक्तं लैङ्गे, सहस्त्रनाम्नि "एकैकं नाम रामस्य सर्वपाप प्रणाशनम् । सहस्रनाम फलदं सर्वैश्वर्य प्रदायकम् ॥ इति, तस्मात्सर्व वेदापेक्षया दशगुणितं यद्विष्णु सहस्रनाम तत्तुल्य फलदमेकैकं रामनाम, तादृश श्रीराम सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम इति ज्ञेयम् । अयमर्थो राम रामेति रामेति पदेन बोधितः । तथा च - सर्व वेदापेक्षया सर्व मन्त्रापेक्षया च कोटि गुणित फलं रामेति नामेत्युक्तम् । यद्वा एकैक विष्णुनाम समुच्चित सर्ववेद सर्वमन्त्र फलप्रदत्वमुक्तम् । अतएव प्रत्येकापेक्षयाधिक्यम् । अधिक फलदमित्यर्थः । एतादृशं यद्विष्णु सहस्रनाम तत्तुल्यमैकैकं राम प्रतिपादकं नाम । तादृशानि दश सहस्र रामनामानि सहस्रनामतत्तुल्यमित्यस्य सहस्रनामतद्भिस्तुल्यमितिविग्रहवाक्येन बहुत्वतात्पर्यकेन प्रतीयमानानि सहस्रगणनया कोटिसंख्यानि सम्पद्यते ।"

क्योंकि लिङ्ग पुराणोक्त सहस्त्रनाम में कहा है कि एक-एक श्रीरामजी का नाम समस्त पापों का नाश करने वाला है और सहस्त्रनाम के फल एवं सर्वैश्वर्य का देनेवाला है, इसलिये सब वेदों की

अपेक्षा दशगुणित जो विष्णुसहस्रनाम है उसके तुल्य फल देने वाला एक-एक श्रीरामजी का नाम है। सादृश श्रीरामजी के सहस्त्रनामों के तुल्य 'राम' नाम है। यह अर्थ 'राम रामेति रामेति' इस पद्य से बोधित होता है, तथाच सब वेद और सत्र मंत्रों की अपेक्षा कोटि गुणित फल रामनाम से होना युक्त ही है। अथवा एक-एक विष्णु का नाम समुच्चित सब वेद और सब मंत्रों के तुल्य फल देनेवाला है। अतएव प्रत्येक की अपेक्षा से अधिक फलप्रद है। ऐसे जो विष्णुसहस्रनाम तत्तुल्य एक-एक श्रीरामजी का प्रतिपादन करनेवाला नाम है। ऐसे जो रामजी के दशहजार नाम वे 'सहस्रनाम् तत्तुल्यम्' श्लोक में 'सहस्त्रनाम तद्विस्तुल्यम्' इस विग्रह वाक्य से बहुत्व के तात्पर्य से प्रतीयमान नाम सहस्र की गणना से कोटि संख्या को प्राप्त होते हैं।

ननु "तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिस्तुपारकात्' इत्यत्र तारकसंज्ञकरामनाम्नो मुक्तिजनकत्वम् । पारकसंज्ञस्य श्रीकृष्ण नाम्नस्तु प्रेमभक्तिजनकत्वम् । पूर्वं मोचकत्वप्रेमदत्वाभ्यां रामकृष्णनाम्नोरेवाभिधानात्, इति चेदुच्यते" न भूमिका प्रभावश्च सरितो वा वरानने । न ऋषीणां प्रभावश्च प्रभावो विष्णुतारके" इत्येतत् पूर्वतन पार्वती प्रश्ने प्रत्युत्तर भूत महादेववाक्ये विष्णुसंबंधि तारकस्य प्रकान्तत्वेक तत्तारकस्य रामसम्बंधित्वमेवनास्ति । यतः श्रीकृष्ण महिमा सर्वश्चिच्छक्तिर्यः प्रवर्तते तारकं-पारकं यस्य प्रभावोऽयमनाहतः । इत्युत्तर वाक्ये श्रीकृष्णविषययोरेव मन्त्रयोस्तारकपारकत्वेन अधिधानम् ॥

यदि कहो कि "तारक से मुक्ति और पारक से प्रेम भक्ति होती है" यहाँ पर तारक संज्ञक श्रीरामनाम में मुक्तिजनकता और पारक संज्ञक श्रीकृष्णनाम में प्रेम भक्तिजनकता है। यहाँ तो श्रीराम-कृष्ण नामों में मोक्ष और प्रेम देने का प्रतिपादन किया गया है? तो इसका उत्तर देते हैं-न तो भूमि का प्रभाव है और हे वरानने ! न नदी का प्रभाव है, न ऋषियों का ऐसा प्रभाव है जैसा विष्णुतारक में प्रभाव है।" यह पूर्वतन पार्वती के प्रश्न में और प्रत्युत्तरभूत महादेवजी के वाक्य में विष्णु संबंधी तारकमंत्र का संबंध होने से 'विष्णुतारक' ही यहाँ गृहीत होगा, यह तारक श्रीरामसंबंधी नहीं है, क्योंकि "श्री कृष्ण भगवान् की चिच्छक्ति स्वरूप वह महिमा है कि जिनका तारक और पारक यह अनाहत प्रभाव है" इस उत्तर वाक्य में श्रीकृष्ण भगवान् के ही दोनों मन्त्रों को तारक और पारक संज्ञा से कहे गये हैं।

न च "इति तारक मन्त्रोऽयं यस्तुकाश्यां प्रवर्तते । स एव माथुरे देवि वर्ततेऽत्र वरानने" इत्यत्र काश्यामुद्दिश्यमानस्य श्रीराममन्त्रस्य मथुरायां विद्यमानत्व कथनेन स एव तारक शब्देन गृहीतुमुचितमिति वाच्यम् - काश्यां प्रणवस्य श्रीराम प्रतिपादकत्वेऽपि स एव माथुरे इत्यत्र तच्छब्देन प्रणवमात्रस्य श्रीकृष्ण प्रतिपादकस्यैव श्रीकृष्ण महिमेति पूर्ववाक्येनोपात्तत्वात् । यदि तारक पारक संज्ञे क्रमेन रामकृष्णनाम्नोरभिहिते एकादशमार्षवचनमस्ति तर्हि तत्र रामसम्बंधि नाम्नः प्रणवस्यैव ग्रहणंज्ञेयम् । यतो रामतापिन्यां प्रणवस्य रामवाचकत्वमस्ति, रामेति नाम्नस्तारक संज्ञकत्वेन ग्रहणेऽपि श्री

कृष्णवाचक रामशब्दस्यैव तारक संज्ञेति प्रकरणार्थ उन्नेयः । यथा "हरे रामेति" श्लोके रामशब्दस्य कृष्ण वाचकत्वम् कैश्चिदङ्गीकृतम् ।

यदि कहो कि "जो यह तारकमन्त्र काशी में है वही हे देवि ! मथुरा में है और वही यहाँ भी है", यहाँ पर काशी के उद्देश्य से कहे हुए राममंत्र का मथुरा में विद्यमानत्व कथन करने से वही तारकमंत्र यहाँ तारक शब्द से ग्रहण करना उचित है ? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि काशी में प्रणव श्रीरामप्रतिपादक होने पर 'सएव माथुरे' यहाँ पर भी तच्छब्द से प्रणव मात्र का ग्रहण होगा, क्योंकि वही श्रीकृष्ण का प्रतिपादक 'श्रीकृष्ण महिमा' इस पूर्व वाक्य से उपात्त है, यदि तारक-पारक संज्ञा क्रम से राम कृष्ण नाम की ही अभिहित है, ऐसा ग्यारहवाँ आर्ष वचन है तो वहाँ राम संबंधीनाम प्रणव का ही समझना चाहिये, क्योंकि रामतापनी उपनिषद् में प्रणव को श्रीरामवाचक कहा गया है, राम नाम को तारक संज्ञा से ग्रहण करने पर भी श्रीकृष्ण वाचक राम शब्द को ही तारक संज्ञा है, यही प्रकरण का अर्थ समझना चाहिये, जैसे किसी-किसी ने 'हरे राम' श्लोक में उपात्त राम शब्द को कृष्णवाचक स्वीकार किया है।"

एवं सर्व भगवन्नाम्नां कृष्णवाचकत्वं संदर्भ प्रतिपादितम् । अन्यथा 'तत्पदप्राप्तिकारकः' इत्यनेनाभिहित श्रीकृष्णपदप्राप्तिकारकत्वस्यासङ्गततापत्तिः । यद्वा बलराम वाचकस्य रामेति नाम्नस्तारक संज्ञा ज्ञेया, तस्य श्रीकृष्णांशत्वात् कृष्णधामाऽपि बलरामधामास्ति अतस्ततपद प्राप्तिरपि सङ्गच्छते । श्रीरामस्य वृक्षादि लता पशु जलादिषु प्रेमदातृत्वमस्ति, किमुत चेतनेषु ? तत्र लतादि प्रेमदातृत्वं यथाऽयोध्याकाण्डे कैकेयीं प्रति वशिष्ठ वाक्यम् - "द्रक्ष्यसेऽद्यसुदुर्वृत्ते व्याघ्र व्याल मृग द्विपान् । गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तथोन्मुखान (वा० अ० स० ३७-३३) ॥ तत्रैव दशरथं प्रति सुमन्त्रवाक्यम्" -विषये ते नरव्याघ्र रामव्यसन दुःखिताः । अपिवृक्षारुदन्तिस्मस पुष्पस्तवकाङ्कराः॥ सवाष्पास्सरितश्चासन् सन्तप्त कलुषोदकाः (वा० ५९-४) तत्रैवास्ति "दीनार्त मनुजाः प्रेम्णा वने चोपवने द्रुमाः । परिदेवनाऽतुर जना रुदितस्वननादिनः ॥" इति, तस्माल्लतादि प्रेम दातृत्वेनाऽपि श्रीरामचन्द्रस्य सर्वोत्कृष्टत्वं सिद्धम् ॥

इतिश्री गालवाश्रम गाद्याधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्री महाराज मधुराचार्य कृते श्री रामतत्त्वप्रकाशे श्री रामरूपमाहात्म्यादि प्रतिपादनं नाम चतुर्थोल्लासः ॥४॥

एवं सब भगवन्नामों की कृष्णवाचकता सन्दर्भ में प्रतिपादन की गयी है। ऐसा नहीं मानेंगे तो "तत्पदप्राप्ति कारक" इससे कही गई श्रीकृष्णपद प्राप्ति कारकता की असङ्गति हो जायगी, यद्वा बलरामवाचंक राम नाम की तारक संज्ञा जाननी चाहिये, बलराम श्रीकृष्ण के अंश होने से कृष्ण का धाम बलरामजी का धाम है अतः कृष्ण भगवान् के पद को देने की शक्ति भी उनमें संगत है।

श्रीरामजी में वृक्ष-लता-पशु जलादिकों में भी प्रेम देने की शक्ति है तब चेतनों को प्रेम प्रदता क्यों नहीं होगी ? लतादिकों को आपने प्रेम दिया यह वाल्मीकीय अयोध्याकाण्ड में कैकेयी के प्रति वशिष्ठ वाक्य प्रमाणित करता है कि - हे सुदुर्वृत्त ! व्याघ्र-सांप-मृग और पक्षियों को श्रीरामजी के साथ जाते हुए तुम देखोगी और वृक्षों को रामजी को ओर झुकते हुए देखोगी ॥" वहीं पर दशरथजी के प्रति सुमन्त्र का वाक्य है कि "हे नर व्याघ्र ! आपके देश में रामजी के वनवास से दुःखी वृक्ष भी पुष्पों के गुच्छा और अङ्कुर के सहित रो रहे हैं । नदियों से वाष्प निकलते हैं और जल संतप्त हो रहे हैं । वहीं अयोध्याकाण्ड में "मनुष्य दीन और आर्त होकर रुदन करते हैं और वन-उपवनों में वृक्ष भी रुदन का शब्द प्रतिध्वनित करते हैं।" ऐसा कहा है, इसलिये लतादि स्थावर जन्तुओं को भी प्रेमप्रद होने से श्रीरामजी का प्रेमदातृत्व सर्वोत्कृष्टत्व सिद्ध हुआ ।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेन श्रीअखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिधभाषाटीकायां चतुर्थोल्लासः ॥४॥

अथ पंचमोल्लासः

अथ श्रीरामायणाभिधेयत्वेनाऽपि श्रीरामे औत्कृष्टयमस्ति श्रीभागवतस्य सर्वापेक्षयोत्कृष्टत्वेन तत्प्रतिपाद्यस्य कृष्णस्यैवोत्कृष्टत्वमिति चेदुच्यते - श्रीभागवतस्य व्यासग्रन्थापेक्षया यद्यप्युत्कृष्टत्वमस्ति, अथापि श्रीरामायणापेक्षयोत्कृष्टत्वं नास्ति, तादृग् वचनानुपलम्भात् । यथा श्रीभागवतस्य गायत्र्यारम्भ एवं रामायणस्य प्रति सहस्रं गायत्र्यक्षर गर्भितत्वमस्ति । किञ्च वल्लभाचार्यैः श्रीभागवतस्य लौकिक भाषा समाधि भाषा परमतभाषेति भाषात्रयवत्वं पुराण प्रसिद्धं लिखितम् । सम्पूर्णस्य श्रीरामायणस्यस्तु समाधिभाषात्वमेव पुराण प्रसिद्ध लिखितम्, श्रीभागवतेऽपि भाषात्रयं श्रीभागवतटीकायां सुबोधिन्यां निबन्धे च सूचितम् तस्मात् वल्लभाचार्य मते श्रीरामायणस्य सर्वोत्कृष्टत्वं सिद्धयति ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण से प्रतिपादित होने से भी श्रीरामजी में उत्कृष्टता है (क्योंकि सर्व पुराणेतिहास शास्त्रों की अपेक्षा श्रीरामायणजी सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है) यदि कहो कि श्रीभागवत सब ग्रन्थों की अपेक्षा श्रेष्ठ है अतः तत्प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण में ही श्रेष्ठता है, सो नहीं कह सकते क्योंकि श्रीभागवत व्यासकृत ग्रन्थों की अपेक्षा यद्यपि श्रेष्ठ है तथापि श्रीरामायण की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि रामायण से भागवत की श्रेष्ठता का प्रतिपादक कोई वचन उपलब्ध नहीं है। विवेचन दृष्टि से भी रामायण में ही श्रेष्ठता है क्योंकि भागवत का गायत्री से आरम्भ किया गया है और श्रीरामायणजी में तो प्रतिसहस्त्र गायत्री का एक-एक अक्षर गर्भित है। (अतः श्रेष्ठत्व सिद्ध है) किञ्च श्रीवल्लभाचार्य जी ने भागवत में लौकिकभाषा-समाधिभाषा और परमतभाषा इस प्रकार तीन भाषाओं को पुराणप्रसिद्ध लिखा है, और सम्पूर्ण रामायण में तो केवल एक समाधि भाषा ही पुराण प्रसिद्ध है, श्रीभागवत में तीन भाषाओं का होना सुबोधिनी टीका और निबन्ध से भी सूचित किया गया है, इसलिये श्रीवल्लभाचार्य जी के मत से श्रीरामायण सर्वोत्कृष्ट है यही सिद्ध होता है (क्योंकि समाधि भाषा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। उसी भाषा में रामायण का निबन्ध किया गया है।

श्रीभागवते द्वादशस्कन्धे - "कथा इमास्तेकथिता महीयसा विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् । विज्ञान वैराग्य विवक्षया विभो वचो विभूतिर्नतु परमार्थ्यम (१२।३।१४) इति "यस्तूत्तमश्लोक गुणानुवाद" (१२।३।१५) इत्यादिना श्रीशुकैरपि श्रीभागवत त्रैविध्यं सूचितम्, श्रीरामायणेतु "आदि काव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्" इति ब्रह्मणा सम्पूर्णस्य श्रीरामायणस्य रामे प्रतिष्ठितत्वमुक्तम् । किञ्च वाल्मीकिना बालकाण्डे तृतीयसर्गे "सम्पूर्णमेव रामचरित्र समाधौ दृष्टं" श्रीभागवतेतु पूर्णपुरुष जीव माया वन्धमोक्षा एव व्यासैः समाधौ दृष्टाः अतोऽपि भाषा त्रयवत्वं श्रीभागवतस्यास्ति, किञ्च समाधि दर्शनस्य यथार्थ ज्ञानरूपत्वात तद्दर्शनमुभयोरेकरूपमेवापेक्षितम् ।

श्रीभागवत द्वादशस्कन्ध में "लोक में परम यश का विस्तार करके परलोक में गये हुए महापुरुषों की कथाओं को कहा, हे विभो ! विज्ञान वैराग्य की विविक्षा से केवल वचन विभूति मात्र है परमार्थ स्वरूप नहीं है।" "और जो उत्तम श्लोक गुणानुवाद है" (वही सुनना चाहिये) इत्यादि कथन से श्रीशुकाचार्य ने भी भागवत को त्रैविध्य सूचित किया, श्रीरामायण में तो - "हे रामजी ! सम्पूर्ण यह आदिकाव्य आप में प्रतिष्ठित है" इस ब्रह्मा जी के कथन से सम्पूर्ण रामायण केवल श्रीरामप्रतिपादक है, किञ्च वाल्मीकि ने बालकांड के तृतीय सर्ग में "सम्पूर्ण श्रीरामचरित्र समाधि में देखा" और श्रीभागवत में तो "पूर्ण पुरुष-जीव-माया-बन्ध और मोक्ष इन पदार्थों को ही व्यासजी ने समाधि में देखा है" अतः भागवत का भाषात्रयवाला होना सिद्ध होता है, किञ्च समाधि दृष्ट पदार्थ में यथार्थ ज्ञान रूपता होने से समाधि दर्शन दोनों का एक रूप है।

श्रीभागवते यद्यपि श्रीरामप्रतिपादनं संदिग्धमस्ति, अथापि श्रीरामायणे स्पष्टतः प्रतिपादनमस्ति अतो निःसंदिग्धेन संदिग्ध निर्णयः कर्त्तुमुचितः । श्रीरामस्य श्रीभागवत प्रतिपाद्यत्वमप्यस्ति, अथाहि कोशलखण्डे श्रीरामसहस्त्र-नाम्नि "श्रीरामायण सारार्थोऽध्यात्म भागवत प्रिय" इति आत्मानमधीत्यमध्यात्म, अध्यात्म भागवतं यस्येत्यध्यात्म भागवतः, यस्यात्मनः स्वरूपमधिकृत्य भागवतमस्ति तस्मात् श्रीभागवत प्रतिपाद्य इति भावः । श्रीभागवते प्रथमश्लोके व्यासमङ्गलाचरणेऽपि श्रीराम प्रतिपादनमस्ति 'जन्माद्यस्य यतः' इति (१।१।१) अस्यार्थः यतः आकाशात् अस्य 'अकारो वासुदेवः स्यात्' इति कोषाद्वासुदेवस्य जन्मादि भवति तं श्रीरामं धीमहीत्यन्वयः । अनेनाग्रे श्रीरामस्य चक्रे वीर्याण्यतः परमित्यत्र वक्ष्यमाणमतः परत्वं सूचितं, अन्वयादितरश्चेति वासुदेवस्य जन्मादि रामात्कृतः ? अवतारेष्वन्वयात् अंशित्वेनान्वयात् इतरतश्च ततोप्याधिक्येन व्यतिरेकोऽपि तस्मादित्यर्थः, अर्थेष्वभिज्ञः अर्थेषु श्रृंगारादिष्वभिज्ञश्चतुरइत्यर्थः, पुनश्च कीदृशः ? स्वराट्, स्वेनैव राजते स्वराज्यवान सर्वेभ्यः उत्कृष्टः, यश्च ब्रह्महृदां ब्रह्मणोहृत हृदयं तेन तद्वारा यद्रामायणाख्यं परं सत्यं आदिकवये वाल्मीकीये तेने प्रकाशितवान् ।"

श्रीभागवत में यद्यपि श्रीरामजी का प्रतिपादन संदिग्ध तथापि श्रीरामायण में तो स्पष्ट प्रतिपादन है, अतः निस्संदिग्ध (निःसंदेह) से संदिग्ध (सन्देह) का निर्णय करना उचित है। श्रीरामजी का भागवत में प्रतिपादन है, यथा कोशल खंड के श्री रामसहस्रनाम में - 'श्रीरामायण का सार अर्थ और अध्यात्म भागवत के प्रिय' यह प्रतिपादन आता है (यहाँ पर 'अध्यात्म भागवतप्रिय' इस पद की व्याख्या तत्वप्रकाशकार ने इस प्रकार की है)।

आत्मा की समीपता को 'अध्यात्म' कहते हैं, अध्यात्म भागवत जिसको है उसको अध्यात्मभागवत कहते हैं। अर्थात् जिस आत्मा के स्वरूप का अधिकार करके भागवत है उसको 'अध्यात्म भागवत' कहते हैं, उनके प्रिय हैं श्रीरामजी, इस व्याख्या से भागवत प्रतिपाद्य श्रीरामजी हुए यह भाव है।

श्रीभागवत के प्रथम श्लोक में श्रीव्यासकृत मङ्गलाचरण में भी श्रीरामप्रतिपादन है क्योंकि "जन्माद्यस्ययतः" का अर्थ यह है कि "आकाश से 'अ' का अर्थात् "अकार नाम वासुदेव का है" इस कोष वचन से वासुदेव का जन्मादि होता है, उन श्रीराम जी का हम ध्यान करते हैं। इससे आगे वक्ष्यमाण 'चक्रेवीर्याण्यतः परम्' इस लोक से उक्त परत्व भी सूचित हुआ, 'अन्वयादितरतश्चेति' वासुदेव के जन्मादि श्रीरामजी से क्यों हैं 'अवतारेषु अन्वयात्' अर्थात अवतारों में अंशित्वरूप से अन्वय होने से, क्योंकि उससे भी अधिकता का व्यक्तिरेक होने से, पुनः अर्थेष्वभिज्ञ" अर्थात् श्रृंगारादि अर्थों में श्रीरामजी अभिज्ञ (चतुर) हैं, पुनः कैसे हैं 'स्वराट्' अर्थात् (वेदों) अपने से ही सुशोभित है, सर्वोत्कृष्ट हैं, जिन्होंने ब्रह्मा के लिये ब्रह्म का विस्तार किया अर्थात् ब्रह्मा के द्वारा रामायणाख्य परम सत्यतत्त्व आदि कविश्री वाल्मीकि के लिये प्रकाशित किया।

ननु वाल्मीकिरेव स्वयं जानात्वित्याशङ्कयाहयत्र सूरयोऽपीति । यत्र यस्मिन् श्रीरामचरित्रे सूरयो विवेकिनोऽपि मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । भ्रमे दृष्टान्तमाह तेजोवारि मृदां यथा विनिमयः, विनिमयः व्यत्ययः, अन्यस्मिन्नन्यावभासस्तद्वदित्यर्थः किञ्च 'यत्र त्रिसर्गोऽमृषा' त्रिसर्गः तिसृणां कौशल्या कैकेयी सुमित्राणां सर्गः । राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्नात्मकः अमृषा सत्यएव वास्तविक एव, यद्वा यत्र यस्मिन् श्री रामायणे त्रिसर्ग बालकाण्डेय प्रथम त्रिसर्ग प्रतिपाद्योऽर्थः अमृषा सत्यः, वाल्मीकिना समाधौदृष्टं तत्सर्वं सत्यमेवेति भावः । त्रयश्च ते सर्गाश्च त्रिसर्गाः त्रिसर्गा प्रतिपादकत्वेन यस्य त्रयः सर्गाअस्येति वा अर्थस्य सोऽर्थः अमृषा सत्यः । कीदृशं 'धाम्नास्वेन सदा निरस्त कुहकं' स्वेन धाम्ना स्वस्वरूपेण निरस्त कपटं, यद्वा स्वेन धाम्ना स्वरूपात्मनायोध्याख्येन धाम्ना निरस्त कुहकं पातकं येन अतएवायोध्या पद निरुक्तौ पापैर्योद्‌धुमशक्येत्यर्थ उक्तः । श्री रामायणे बालकाण्डे सत्य नामेत्युक्तमयोध्यायाः तथाच येन ब्रह्म द्वारा वाल्मीकये यद्रामायणं प्रकाशितं तद्रामायणंच श्रीमही ध्यायेम, अर्थात् रामायणं मनसि कृत्वा तदीय प्रतिपाद्यं मनसि कृत्वा श्री भागवतं प्रवर्तयामेति व्यासोक्तिः । उपयत्र समाधिर्भाषायास्तुल्यत्वात् । अस्मिन् व्याख्याने पूर्व विशेषणानि प्रतिपाद्य प्रतिपादकयोरभेदात् संगच्छन्ते । यद्वा ब्रह्म हृदा यो रामायणं तेने तं परं सत्यं श्री रामं धीमहीति ।

यदि कहो कि वाल्मीकि ही स्वयं इस बात को जानते हैं यह शंका करके कहते हैं कि जिस श्रीराम चरित्र में विवेकी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं, इसको भ्रम में दृष्टान्त देते हैं कि 'जहाँ तेज-जल-मिट्टी का व्यत्यय है' अर्थात् जहाँ दूसरे में दूसरे का अवभास होवे उसको भ्रम कहते हैं, किञ्च जिनमें कौशल्या-कैकेयी-सुमित्रा का श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न रूप सर्ग अमृषा सत्य वास्तविक ही है, अथवा जिस रामायण में बालकाण्ड के प्रथम तीन सर्गों से प्रतिपादित अर्थ अमृषा याने सत्य है, अर्थात वाल्मीकि ने समाधि में जो देखा है वह सब सत्य ही है, तीन जो सर्ग उसे त्रिसर्ग कहते हैं, तीन सर्ग हैं प्रतिपादक जिससे उसका नाम 'त्रिसर्ग' हुआ, अथवा जिस अर्थ

के प्रतिपादक तीन सर्ग हैं वह अर्थ सत्य है। वे कैसे हैं - अपने धाम से अर्थात् अपने स्वरूप से कपट का नाश करने वाले हैं। अथवा स्वरूपात्मक अयोध्या नामक अपने धाम से पातक को नाशकर देने वाले हैं, अतएव अयोध्या पद की निरुक्ति में पाप युद्ध करने में जिससे असमर्थ हों उसे अयोध्या कहते हैं यह अर्थ कहा गया है। श्रीबालकाण्ड रामायण में श्रीअयोध्या का नाम सत्या भी कहा गया है, तथा च सामुहिक तात्पर्य यह हुआ कि "जिसने ब्रह्माजी के द्वारा श्री वाल्मीकि के लिये जिस रामायण का प्रकाशन किया उस रामायण का मैं ध्यान करता हूँ अर्थात् रामायण को और रामायण प्रतिपाद्य श्रीरामजी को मन में रख कर श्रीभागवत का आरम्भ करता हूँ। यही व्यासजी का कथन है क्योंकि समाधिभाषा दोनों जगह तुल्य है। इस व्याख्यान में सभी पूर्व विशेषण प्रतिपाद्य प्रतिपादक का अभेद होने से सङ्गति को प्राप्त होते हैं, यद्वा ब्रह्माजी के हृदय में जिसने रामायण का विस्तार किया उस परम सत्य श्रीरामजी का मैं ध्यान करता हूँ।"

'धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परम' इति, अत्र परम इति, त्रायते इतित्र, अश्वासौ त्रश्व अत्रः, अत्रात्परोऽत्रपरः, अत्र परं मिमीते इति अत्र परमः, अकारो वासुदेवः, स चासौ त्रातारक्षक ईश्वरस्तस्मात्परः श्रेष्ठः श्री रामस्तं मिमीते प्रतिपादकत्वेनेति अत्र परमो धर्मो निरुप्यतइत्यर्थः । यद्वा अत्रं पातीति अत्रपः रश्व मश्व धढकत्वेन यस्यनाम्निस्तः स रमः रकारो मकारश्व, रामनामन्येव घटकत्वेन स्तः अत्रपो रमो यस्मिन्निति धर्मस्य विशेषणं । यद्वा रमयतीति रमुक्रीडायामितिधातोरर्थतः श्रीराम सूचनम् । यद्वा अं वासुदेवं त्रायते नाम पाति तथाच - अत्रोनाम वासुदेव पतिः, अतएव शिवसंहितायां - "अयोध्यापतिरेव स्यात् पतीनां पतिरीश्वरः । अन्यासां मथुरादीनां रामांशाः पतयो यतः ॥" इत्युक्तम्, श्री भागवतेच "स्वयमीश्वराणां श्री मत्कीरीटतट पीडितपाद पीठ" इति "कलया कलेश" (भा० २।७।२३) इति अंशेनेति चोक्तम् । तथाच अत्रश्वासौ परश्व तं मिमीते इत्यनेन श्री भागवतीयो धर्मः श्री राम प्रतिपादन पर एवेत्युक्तम्।"

"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र" में 'अत्रपरम' पद की व्याख्या कई प्रकार से 'प्रकाशकार' ने की है कि जो रक्षा करे उसका नाम है 'त्र', 'अ' और 'त्र' मिलकर 'अत्र' हुआ, अत्र से जो पर हो उसे 'अत्रपर' कहते हैं, और अत्रपर का जो मान करे उसको अत्रपरम कहते हैं। यहाँ अत्र में अकार जो है उसे वासुदेव कहते हैं, वे ही त्राता रक्षक ईश्वर हुए, उनसे परे जो श्रेष्ठ श्री रामजी उनको प्रतिपादन करने वाला धर्म 'अत्र परम धर्म' शब्द से बोधित हुआ, उसका निरूपण यहाँ भागवत में हुआ है। यद्वा 'अत्र' की जो रक्षा करे उसका नाम 'अत्रप' है, और र और म हैं घटकतया जिसके नाम में उसको रम कहते हैं, रकार और मकार श्रीरामजी के नाम में घटकतया प्रविष्ट हैं, वासुदेव के रक्षक राम हैं जिसमें इस प्रकार धर्म का विशेषण हुआ। यद्वा रमयति इस रमुक्रीडा धातु के अर्थ में श्रीरामजी का सूचन किया अथवा अकार नाम वासुदेव की 'त्रायते' माने रक्षा करे तथा च अत्र नाम वासुदेव पति का हुआ, अतएव शिव संहिता में - "मथुरादि अन्य पुरियों के पतियों के पति ईश्वर अयोध्याधिपति श्रीरामजी ही हैं, क्योंकि उनके पति श्रीरामजी के अंश हैं" कहा गया है।

भागवत में भी "स्वयं ईश्वरों के श्रीमत् कीरीटतट से पीडित पादपीठ वाले" "कला से कलाओं के ईश" और "अंश से" कहा गया है, तथा च अत्रहि जो पर उनको मान करने वाला इस कथन से श्रीभागवत का धर्म श्रीरामप्रतिपादन पर है यह सिद्ध होता है।"

'निगमकल्पतरोरिति' कीदृशं भागवतं रसरूपं, पुनः कीदृशं आलयम्, अस्य वासुदेवस्य आ समन्तात् लयो यस्मिन इत्यालयः श्री रामः तस्य दृष्टं प्रति पादकत्वेनास्तीत्यालयम् । तथा च श्लोक त्रयेऽपि श्रीरामप्रतिपादनमेवायाति । किञ्च शौनिक प्रश्ने "अतः साधोऽयत्सारं समुद्धृत्य मनीषया ।" (१।१।११) इति श्लोके अतो वासुदेवात् सारं सारभूतं उत्कृष्टं इत्यर्थेन 'चक्रे वीर्याण्यतः परम' इति श्लोकोक्तो अतः परः परामृष्य ते उत्कृष्टार्थकत्वेन समानार्थकत्वात् । तथाच अयं प्रश्न शौनकादीनां श्रीराम विषयक एव, तस्यैव अतः सार रूपत्वात् । अग्रेच "वसुदेवस्य देवक्यां जातो यस्य चिकीर्षया । तन्नः शुश्रूषमाणानाम अर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्" यस्यावतारभूतानां क्षेमायच भवाय च ॥ (१।१।१३) इत्यत्र यो भगवान् वसुदेवस्य देवक्यां जातः यस्यचावतारो भूतानां क्षेमायच भवायच भवति इति यत्पदस्य सर्व नामत्वेन प्रधान परामर्शित्वान कृष्णस्यावतारि भूतः श्री रामो गृह्यते, "अस्मत्स्वामिनो श्री नारायणस्य अंशेन भवता भवितव्यमित्यादि" श्रीविष्णु पुराण वचनैः 'गोविन्द इति विख्यातो राम सत्ता विजृम्भितः" इति सदा शिवसंहिता वाक्यात् ।

"निगमकल्पतरो इति" कैसा भागवत का स्वरूप है तो 'रस स्वरूप' है, पुनः कैसा है तो 'आलय' है अर्थात् 'अ' माने वासुदेव का 'आ' माने सर्वतः 'लय' जिनमें होवे वे आलय पद वाच्य श्रीरामजी हुए, उनका यह भागवत प्रतिपादक है इसलिये 'आलय' पद वाच्य है। तथा च तीनों ही श्लोक में श्रीरामजी का प्रतिपादन आया, किञ्च शौनक के प्रश्न में भी "हे साधो ! अपनी बुद्धि से 'अ' से भी जो सारभूत हो उसको उद्‌धृत कर हमसे कहें", इस श्लोक में वासुदेव से सारभूत उत्कृष्ट अर्थ के लिये प्रश्न किया गया है, अतः "चक्रे वीर्याण्यतः परम्" इस श्लोक में कहे गये अ से पर का परामर्श होगा, क्योंकि उत्कृष्टार्धकत्वेन समानार्थक होने से, तथा च यह आया कि शौनकादिकों का यह प्रश्न श्रीराम विषयक ही है, क्योंकि श्रीरामजी ही 'अ' (वासुदेव) से भी सारभूत है। आगे - "वसुदेव की भार्या देवकी में जिस कार्य को करने की इच्छा से प्रकट हुए उन कर्मों को श्रवण करने की इच्छा वाले हम लोगों से वर्णन करें जिनका अवतार प्राणीमात्र के क्षेम कल्याण के लिये है" यहाँ पर जो भगवान वसुदेव से देवकी में प्रकट हुए और जिनका अवतार भूतों के क्षेम और कल्याण के लिये होता है। इति, यत्पद सर्वनाम होने से प्रधान का परामर्शी है, इसलिये कृष्ण के अवतारीभूत श्रीरामजी ही गृहीत होंगे, क्योंकि "अस्मत्स्वामिन" इस विष्णुपुराण के वचनों से और "गोविन्द नाम से प्रसिद्ध श्रीराम जी की सत्ता से बढ़े हुए" इत्यादि सदा शिव संहिता के वाक्य से सिद्ध होता है।"

पाद्मोत्तर खण्डे - "राघवः प्रथमं जज्ञे कृष्णस्तु तदनन्तरम् इति दशरथ एव वसुदेवो जात इति तत्रोक्तम्" रघूनामन्वयेपूर्वं राजा दशरथोऽभवत् । द्वितीये वसुदेवोऽभूत्

वृष्णीनामन्वये विभुः" इति, श्रीरामएव वसुदेव गृहे जात इत्युक्त्या च श्रीरामस्यैवायं श्रीकृष्णावतारः । अतएव "स्वांकाष्ठां मधुनोपेते धर्मः कं शरणंगतः" (१।१।३३) इत्यत्रापि 'काष्ठा' शब्देन स्वरूपं श्रीधर स्वामिभिः काष्टां मर्यादा, स्वरूपमिति व्याख्यातम् ततश्च कृष्णस्य स्वरूपावाप्तिर्नाम श्रीरामस्वरूपावाप्तिरेव यतः श्रीरामस्यैवावतारित्वेन स्वरूपरूपत्वात् । योयस्यावतारः स कार्योत्तरं स्वावतारिणि लीनो भवति, यद्यपि सर्वेऽवताराः नित्याः तथापि तेषामवतारिणः सकाशान्निर्गमः प्रवेशश्च युक्तएव, यतोऽनेक मूर्तित्वमेकमूर्तित्वश्चाचिन्त्य शक्त्या सम्भवति । किञ्च "यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति” (१।२।५) इत्युत्तर वाक्ये यत यस्मात्कृष्णसम्प्रश्नोः चित्ताकर्षकः सम्यक् प्रश्नः कृतः येन आत्मा सुतरां प्रसीदति, इत्यनेन पूर्वं यथा येन "आत्मा सुप्रसीदति, इति पृष्टम् तथैव उत्तरं दत्तम् तस्माच्छ्रीकृष्णस्य रामावतारत्वे सिद्धे श्रीकृष्णंप्रक्रम्य या लीला उक्तास्ताः सर्वाअपि श्रीरामस्यैव ज्ञेयाः ।”

पाद्मोत्तर खंड में - "पहले श्रीराघव प्रकट हुए बाद में श्रीकृष्ण जी” ऐसा कहा है और वहीं पर दशरथजी ही वसुदेवजी हुए यह "रघूनामन्वयेपूर्व” श्लोक में प्रतिपादन किया है और श्रीराम जी ही वसुदेव के घर में प्रकट हुए इस कथन से श्रीरामजी का ही कृष्ण रूप से अवतार है, अतएव "स्वांकाष्ठां" इस श्लोक में 'काष्ठा' शब्द से स्वरूप का बोध होता है क्योंकि श्रीधरस्वामी ने भी 'काष्ठा-मर्यादा-स्वरूप' ऐसा अर्थ किया है । ततश्च कृष्ण स्वरूप को प्राप्त हुए इसका अर्थ यह है कि अपने राम-स्वरूप को प्राप्त हो गये, क्योंकि श्रीरामजी अवतारी होने से उन्हीं का यह कृष्ण-रूप है। जो जिसका अवतार होता है वह कार्य के पर्यवसान में अपने अवतारी में लीन हो जाता है, यद्यपि 'सभी अवतार नित्य हैं' तो भी उनका अवतारी से निकलना और प्रवेश करना युक्त ही है, क्योंकि अनेक मूर्त्ति होना और पुनः एक मूर्त्ति हो जाना अचिन्त्य शक्ति से सम्भव है (अर्थात् ब्रह्म में अचिन्त्य शक्ति होने से एक से अनेक और अनेक से एक हो जाना सम्भव है।) किञ्च - "यत्कृतः कृष्ण सम्प्रश्नः" अर्थात् जो कृष्ण विषयक प्रश्न किया है, जिससे आत्मा प्रसन्न होती है, इस उत्तर वाक्य में 'कृष्ण सम्प्रश्नः' का अर्थ है चित्ताकर्षक सम्यक् प्रश्न किंच, जिससे आत्मा सुतरां प्रसन्न होता है। इस उत्तर वाक्य से 'येनात्मा सुप्रसीदति' प्रश्नानुसार ही उत्तर है, इसलिये श्रीकृष्ण श्रीरामजी के अवतार सिद्ध हुए तब श्रीकृष्ण को उपक्रम करके जो लीलायें कहीं गयी वे सब लीलायें श्रीरामजी की ही जाननी चाहिये ।"

तथाच दशमस्कन्धे जाम्बवता श्री रामरूपेणैव श्रीकृष्ण वर्णनं "यस्येशदुत्कलित रोषकटाक्षमोक्षः"'(१०।५६।२८) इत्यादिना कृतम् । अनन्तरम् "मणिहेतोरिह प्राप्ता वयभृक्षपते बिलम्” (१०।५६।३१) इत्युक्तम् । तथाच - तादृश लीला कृर्तृत्वं श्री रामस्यैव सिद्धयति । अग्रेच कुरुक्षेत्र यात्रायां - "प्रद्यायदेहकृदमुं निजनाथदेवं सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाम्ययुध्यत् । ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुख्य दासी (१०।८३।१०) श्री रामस्यैवअयमवतारः सिद्धयति पुराणान्तरे चोक्तम् जाम्बवन्तं प्रति

श्रीरामेण "यस्तवपुत्र्याः पाणिं ग्रहीष्यते, इति । अध्यात्म रामायणे - "जाम्बवन्तमथप्राह तिष्ठत्वं द्वापरान्तरे । मया सार्द्धं भवेद्धयुद्धं यात्किञ्चित्कारणान्तरे (अ० उ० ९।३५) इति तस्माच्छ्रीरामस्यैव श्री भागवत प्रतिपाद्यत्वं । किञ्च "ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म वर्मणि । स्वां काष्ठामधुनो पेते धर्मः कंशरणंगत' (१।१।२३) इति शौनकादिभिः पृष्टं तस्योत्तरं सूतेनोक्तम् "कृष्णे स्वधामोपगते धर्म ज्ञानादिभिस्सह । कलौ नष्ट दशामेष पुराणार्कोऽधुनोऽदितः । (१।३।४३-४४) इति, तथाच - श्री कृष्णस्य द्वापरावतारत्वात् द्वापरे धर्म श्री कृष्णाश्रयेण स्थितः "द्वापरान्ते श्रीकृष्णो यदा स्वधाम गतस्तदा धर्मः कं शरणं गत" इति प्रश्ने उत्तरं कलियुगे श्री रामं प्रति धर्मः शरणं गतः श्री रामस्य कलियुगो पास्यत्वात् पुराणार्कस्य शरणोक्तिस्तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकयोरभेद विवक्षया तथाच "कलौ नष्टद्दशामेष पुराणोर्कोऽधुनो हितः" इति वचनात् श्री भगवता प्रतिपादितो धर्मोहि कलियुग धर्मोवगम्यते कलियुग उपास्यत्वेन श्री रामचन्द्रएव, एकादशे करभाजनोक्तानुसारेण पूर्वं निर्धारित एव ।

तथा दशमस्कन्ध में जाम्बवान ने श्रीरामरूप से ही श्रीकृष्ण-भगवान् का वर्णन 'यस्येशदत्कलित' इस श्लोक से किया है, आगे चलकर भी - "हे ऋक्षपते ! हम इस बिल में मणि के लिये ही प्रवेश किये हैं" यह कहा है, तथा च इस प्रकार की लीला करना श्रीराम में ही सिद्ध होता है, आगे कुरुक्षेत्र यात्रा प्रकरण में भी- 'प्रद्यायदेह कृदमुं' इस श्लोक से सीतापति श्रीरामजी का ही यह अवतार है ऐसा कहा है; तथा पुराणान्तरों में जाम्बवान् के प्रति श्रीरामजी ने कहा है कि- "जो तुम्हारी पुत्री का पाणिग्रहण करेगा।" अध्यात्म रामायण में जाम्बवान् के प्रति श्री रामजी ने कहा कि द्वापर के अन्त तक तुम ठहरो उस समय किसी कारणान्तर से हमारे साथ तुम्हारा युद्ध होगा" इसलिये भागवत के प्रतिपाद्य देव श्रीरामजी ही हैं, किञ्च "ब्रह्मण्य धर्ममार्ग योगेश्वर श्रीकृष्ण के अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाने पर धर्म किसके शरण में गया ? यह शौनकादिकों ने प्रश्न किया । उसका उत्तर सूत ने "कृष्णेस्वधामोपगते" इस श्लोक से दिया है। तथा च श्रीकृष्णजी का द्वापर में अवतार होने से द्वापर का धर्म श्रीकृष्ण के आश्रित हुआ और द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण भगवान् जब अपने धाम को चले गये, तब धर्म किसकी शरण में गया ? इस प्रश्न पर उत्तर है कि - कलियुग में श्रीरामजी के आश्रित होकर धर्म रहा, इसलिये श्रीरामजी ही कलियुग के उपास्य देव हैं, 'पुराणरूपी सूर्य की शरण में गया' यह जो कहा गया है वह कथन तो प्रतिपाद्य प्रतिपादक की अभेदविवेक्षा से है, तथा च 'कलौ नष्टद्दशामेष' इस वचन से श्री भागवत प्रतिपादित धर्म ही कलियुग का धर्म है और कलियुग में उपास्य देव भी श्रीरामजी ही हैं, यह एकादश स्कंध में करभाजन योगेश्वर के कथनानुसार पहले ही सिद्ध किया जा चुका है।"

एवं नवमस्य दशमाध्यायेऽपि "षट्वाङ्गादि-त्यारभ्य" तस्याऽपि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः इत्यत्र भगवानित्यनेन श्री भागवताभिधेयो भगवानित्यर्थः । किञ्च "नरदेवत्वमापन्नः सुर कार्य चिकीर्षया । समुद्र निग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परमित्यनेन

परामृष्टस्य अतः परश्च अग्रे विवित्सवस्तत्वमतः परस्य "कुमार मुख्यान् मुनयोऽन्व पृच्छन्" इति सनकादिभिरतः परस्य तत्त्वबुभुत्सायां कृतायां सङ्कर्षणेन अतः परं लक्षीकृत्य श्री भागवतं प्रवर्तितं अतएव मैत्रेयोक्तिरपि "सोहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय तस्य । प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्दषिभ्यः" इति मैत्रेयेण निर्दिष्टात् साक्षात् भगवतः संकर्षणात् परत्वेन निर्दिष्टस्य तत्वमपृच्छन्, इति । तथा चात्र नरदेवत्वमिति श्लोके अतः पर मित्यनेन 'जगृहे पौरुषं रूपं' दृश्येनेन प्रक्रान्तोयः साक्षात् भगवान्तत्परत्वं श्रीरामस्योक्तम् । तत्रापि साक्षात् भगवत्पदत्वे नोपात्तेन सहैक वाक्यस्वात् ।

एवं नवमस्कन्ध के दशवें अध्याय में भी 'षट्वाङ्गात्' यहाँ से आरम्भ कर उनके वंश में भी ब्रह्ममय यह साक्षात् भगवान प्रकट हुए यहाँ पर भी 'एष भगवान' कहने से यह श्रीमद्भागवत के अभिधेय (प्रतिपाद्य) भगवान यही अर्थ है। किञ्च "नरदेवत्वमापन्न" 'इस श्लोक द्वारा परामर्श किये गये 'अ' 'वासुदेव' से परे का और आगे भी सनकादिक मुख्य मुनियों ने वासुदेव से परे का तत्व जानने की इच्छा से प्रश्न किया, यहाँ सनकादिकों ने वासुदेव से परे तत्व को जानने की जब इच्छा की तब संकर्षण ने वासुदेव से पर का लक्ष्य करके श्रीभागवत का आरम्भ किया, अतएव मैत्रेयजी का कथन भी 'अल्प सुख के लिये महान दुःख को प्राप्त मनुष्यों के दुःख के विराम के लिये भागवत पुराण का वर्णन मैं करता हूँ। जिस भागवत को भगवान ने ऋषियों से कहा था, भा० त० ८ अ० श्लो० २ संगत हाता है।

इति, श्रीधरस्वामी ने भी इसकी व्याख्या में इस प्रकार लिखा है कि 'यदाह भगवानृषिभ्यइति' मैत्रेय से निर्दिष्ट साक्षात् भगवान् संकर्षण से पर तत्व का प्रश्न किया, इति । तथा च यहाँ 'नरदेत्वं' इस श्लोक से 'अतः परम्' 'द्वारा जगृहे पौरुषं रूपं' इस वचन द्वारा प्रक्रान्त जो साक्षात् भगवान् हैं उनसे भी परत्व श्रीरामजी का कहा गया है, क्योंकि वहाँ पर साक्षात् भगवत्पद से उत्पात के साथ एक वाक्यता है।

ननु श्री भागवत प्रतिपाद्यः श्री रामश्चेत् तच्चरित्रं स्वल्पमेव किमर्थमुक्तमितिचदुच्यते- "श्रुतंहि वर्णित भूरि त्वया सीतापते र्मुहुः । (९।१०।३) इत्यनेन बहुशः तस्यानुचरितं राजन्नृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ॥ श्रुतत्वात्, वर्णितत्वाच्च । अध्यायद्वयेन कथनमपि बहु एवास्ति, अन्येषां चरित्रस्याश्रुतस्य बह्वपिकथनं बहु न सम्भवति । तथाच याः कृष्णाद्यवतार कथास्ताः सर्वा-अपि श्री रामस्यैव ज्ञेयाः (एतत्तु तृतीयोल्लासे विस्तरेण प्रतिपादितमेवास्ति, तत्रैव द्रष्टव्यम्) तस्यैव सर्वावतारित्वात् । अतः साधारणतया यत्र कृष्ण वासुदेवादि पदानि तानि श्री रामपराण्येव, कृष्ण वासुदेव पदानां तत्रैव प्रवृत्तेः । एकादशे 'कृष्णवर्णं त्विषा कृष्ण' मित्यत्र कृष्णपदं श्री रामे प्रयुक्तम् । पञ्चम स्कन्धे हनुमदुक्तौ "भगवान् वासुदेवो न स्त्रीकृतं कश्मल" मित्यनेन श्री रामे वासुदेव पदं प्रयुक्तं यत्रतु लीला पुरस्कारेण कृष्णादि पदोपादानं तत्र तत्तदवतार परम् । ततल्लीलास्तु तेषामवताराणां श्री रामावतारत्वात् श्री रामस्यैव ज्ञेयाः ।

इति श्रीगालवाश्रम गाद्याधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्रीमधुराचार्य कृते श्रीरामत्तत्व प्रकाशे श्री रामायणधिभिधेयत्व प्रतिपादनं नाम पञ्चमोल्लासः ॥५॥

यदि कहो कि भागवत के प्रतिपाद्य श्रीरामजी हैं तो उनका चरित्र स्वल्प ही क्यों कहा गया, इसका समाधान यह है कि - "हे राजन् ! 'उन श्रीसीतापति श्रीरामजी का चरित्र तत्वदर्शी महात्माओं ने बहुधा वर्णन किया है आपने खूब सुना है" इस कथन से बहुधा श्रवण होने से और बहुधा वर्णित होने से दो अध्यायों द्वारा कहने पर भी बहुत ही समझना चाहिये । अन्य अवतारों के चरित्र श्रुत न होने से बहुत भी कहे गये थोड़े ही समझने चाहिये, तथा च श्रीकृष्णाद्यवतारों की जो कथायें हैं वे सब श्रीरामजी की ही समझनी चाहिये, क्योंकि श्रीरामजी ही सबके अवतारी हैं, (यह तृतीयोल्लास में विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है, वहीं देखना चाहिये ।) अतः जहाँ साधारणतया कृष्ण वासुदेवादि शब्द आते हैं श्रीमद्भागवत में ये सब श्रीराम परक ही है। क्योंकि कृष्ण वासुदेवादि पद श्रीरामजी में ही प्रवृत हैं। तथाहि एकादशस्कन्ध में 'कृष्णवर्णंत्विषा' यहाँ पर कृष्ण पद श्रीराम वाचक है और पञ्चम में हनुमद्वाक्य में "भगवान्वासुदेवः" वाक्य द्वारा श्रीरामजी में वासुदेव का प्रयोग किया गया है। तथा जहाँ पर लीलापूर्वक कृष्णादि पदों का उपादान किया गया है वहाँ पर तत्तत् पद तत्तत् अवतार परक हैं परञ्च तत्तदवतारों के द्वारा की हुई लीलायें तो श्रीरामजी की ही समझनी चाहिये, क्योंकि श्रीरामजी उन सब अवतारों के अवतारी हैं।

इति श्रीरामतत्त्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगद्गुरु जगदुद्धारक पं० श्रीरामवल्लभाशरणचरणाश्रितेन पण्डित प्रवरेण श्रीअखिलेश्वर दासेन् कृतायां उद्योतोभिधा भाषा टीकायां पञ्चमोल्लासः ॥५॥

अथ षष्ठोल्लासः

द्वितीय स्कन्धे श्री शुकैः 'उत्तम श्लोक लीलया । गृहीत चेता (२।१।९) इत्यनेन स्वस्य श्री रामोपासकत्वमुक्तम्, उत्तम श्लोक पदेन श्री रामग्रहणम् यतः पञ्चमस्कन्धे श्री राममन्त्रे उत्तम श्लोकायल्युक्तम् नान्येषां मन्त्रेषु । अतः उत्तम श्लोक पदम साधारणतया श्री राममेव बोधयति । अगस्त्यसंहितायामुत्तरार्धे "शुकोनामाभवद्विप्रो वेद वेदाङ्गपारगः । निर्वैरः सर्व भूतेषु सुहृच्छान्तो जितेन्द्रियः ॥" इत्युक्त्वा "क्रमेण तीर्थयात्रायां तान्त्रिकोऽयं महामुनिः । संसार सरयूतीरं मषितं शाखिभिर्भृशम् इत्युक्त्वा "तान्त्रिकेण विधानेन विधिज्ञो मुनिसत्तमः । दिव्यं वर्ष शतं यस्मिन्नय जन्मनु वै हरेः ॥ अष्टादशाक्षरं सम्यग् भावानां विग्रहं परम् तेन तस्यै परो देवः श्री रामोभक्त वत्सलः ॥ प्रसन्नोऽभूत्यरानन्द रसमूर्ति रतीश्वरः ।" इत्यनेनादिशुकस्य श्री रामोपासकत्वम् । परीक्षितेनाऽपि "महापौरषिको भवान्" इत्यनेन श्री रामोपासकत्वमुक्तम् महापुरुषशब्देन श्री राम एव, यतः तस्मिन्नेव मन्त्रे 'महापुरुषाय महाराजाय' इत्युक्तम् ।

द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेवजी ने "उत्तम श्लोक लीलया" लोक से अपने को श्री रामोपासक बनाया है, उत्तम लोक पद से श्री रामजी का ही ग्रहण है, क्योंकि पञ्चमस्कन्धोक्त श्री राम मन्त्र में 'उत्तम श्लोकाय' कहा है, अन्यावतारों के मंत्रों में यह विशेषण नहीं आया । अतः यह उत्तम श्लोक पद असाधारणतया श्री रामजी का ही बोध कराता है, यह विषय अगस्त्य संहिता के उत्तरार्ध से भी प्रमाणित होता है कि - वेद वेदाङ्गपारगामी सब भूतों में निर्वैर-सुहृद्-शान्त-जितेन्द्रिय शुक नामक एक ब्राह्मण हुए, ऐसा कह कर "तीर्थ यात्रा में यह महायोगी तान्त्रिक हैं वे वृक्षों से परिमण्डित श्री सरयू जी के तटपर पहुँचे" ऐसा कहकर "यह मुनि श्रेष्ठ सब विधि के ज्ञाता हैं, इन्होंने तान्त्रिक विधान से दिव्य सौ वर्ष तक भगवान के ॐअष्टादशाक्षर मंत्र का भलीभाँति मनन किया, उस मन्त्र-जप से प्रसन्न हुए भक्त वत्सल परात्पर देव परमानन्द रसमूर्त्ति श्री रामजी ने अपने परम विग्रह का दर्शन दिया।" इससे श्री शुकदेवजी का श्री रामोपासकत्व सिद्ध होता है। परीक्षित ने भी "महापौरषिको भवान्" इस विशेषण से

टिप्पणी - ॐ नमो भगवते ब्रूयाद्रामाय तदनन्तरम् । महापुरुषायेति पश्चान्नमः पदमुदीरयेत् ॥ अष्टादशाक्षरी मंत्रराजों मां पातु सर्वदा ॥" ब्रह्मयामलोक्त त्रैलोक्य मोहन राम कवच में "ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः" यह अष्टादशाक्षर मंत्र श्री रामजी का बतलाया है। अनुष्ठानों में इस का भी जप करने का विधान है।श्री शुकदेवजी को रामोपासक ही बताया है, महापुरुष शब्द से श्रीरामजी का ही बोध है, क्योंकि उसी मन्त्र में 'महापुरुषाय-महाराजाय' ये दो विशेषण श्री रामजी के कहे गये हैं।"

"कोशलेन्द्रोऽवतान्नः" इत्यनेन परीक्षितः स्वस्य व रक्षकत्वेन स्वामित्वमुक्तम् । "पादाम्बुजं रघुपतेः शरणं प्रपद्ये" इत्यनेन प्रपत्तिश्चोक्ता, जायन्तेयैरपि "वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम" इत्यनेन स्वेषां श्री रामोपामना द्योतिता, अतएव तैः स्वोपास्योत्कर्ष बोधक 'जयतीति' पदं प्रयुक्तम् । तस्मात्तेषामपि श्री रामोपासनास्ति, तेषां श्री कृष्ण भक्तिस्तु श्री कृष्णस्य रामावतारत्वाद्युक्त एव, श्री व्यासैः स्वोपासना तु प्रथम श्लोके मङ्गला चरणे सूचिता, नारदस्यापि श्री रामोपासनास्ति, तथाहि श्री व्यासं प्रति - "अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवा सत्यरतो दृढव्रतः । उरु क्रमस्याखिलबन्ध मुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्" (१।५।१३) इत्यत्र उरुक्रमस्य चेष्टितं समाधिनाऽनुस्मरेत्युक्तम्, अनुपश्चात्स्वरणमनुस्मरणम्, ततः स्मरणं श्री रामचरित्र स्मरणमेव, कृष्ण चरित्रं तु तदानीं भाव्यमस्ति, तस्यानुस्मरणं न सम्भवति, समाधौच तदेव दृष्टम् । अतः श्रीवाल्मीकिना श्रीगमचरित्रमेव समाधौ दृष्टम्, नह्युभयोः समाधिदृष्टं भिन्नमस्ति, समाधिज्ञानस्य यथार्थैक रूपत्वात्, किञ्च-विच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तम श्लोक गुणानुवादनम् (१।५।२२) इत्यत्र कविभिः अयमेवाविच्युतोऽर्थो निरूपितो यदुत्तम श्लोक गुणानुवर्णनं नाम इति । कवि पदञ्च वाल्मीकावेव प्रसिद्धम्, बहु वचनं त्वभ्यर्हितत्वादेव, यथा वर्णितं व्यासपुत्रैरिति वत् ।

"कोशलेन्द्र हमारी रक्षा करें" इस वाक्य से श्रीशुकदेव ने परीक्षित और अपने रक्षक श्रीरामजी हैं ऐसा कहकर श्रीरामजी को अपना स्वामी बताया, और "मैं श्रीरघुपति के चरणारविन्दों की शरण में प्राप्त हूँ।" इस कथन से अपनी प्रपत्ति श्रीरामजी में हैं यह सूचित किया । जायन्तेय नवयोगेश्वरों ने भी - "वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्" इत्यादि स्तोत्र से अपनी श्रीरामोपासना घोषित की है। उन्होंने अपने उपास्य का उत्कर्ष बोधक 'जयति' पद प्रयोग किया है अतः उनकी भी श्रीरामोपासना ही है। जहाँ जहाँ उनकी कृष्णभक्ति दीखती है वहाँ वहाँ श्रीकृष्ण तो श्रीरामजी के अवतार हैं अतः उनकी भक्ति करना युक्त ही है, ऐसा समझना चाहिये। श्रीवेदव्यास भगवान् ने भी अपनी उपासना मङ्गलाचरण के प्रथम श्लोक से सूचित की है। श्रीनारद जी की भी श्रीरामोपासना ही थी, तद्यथा श्रीव्यासजी के प्रति श्रीनारदजी कहते हैं कि "हे महाभाग व्यासजी ! आप अमोघदृष्टिवाले पवित्र कीर्त्ति, सत्यरत और दृढव्रत हैं, अतः अखिल बन्धनों की मुक्ति के लिये समाधि के द्वारा उरुक्रम भगवान की चेष्टाओं का अनुस्मरण कीजिये।" यहाँ पर उरुक्रम भगवान की चेष्टाओं को समाधि के द्वारा अनुस्मरण करो यह कहा है। 'अनु स्मरण' पद का अर्थ यह है कि अनु = पश्चात् स्मरण = याद होना अनुस्मरण है, तो वह अनुस्मरण श्रीरामचरित्र-स्मरण ही होगा (क्योंकि श्रीरामचरित्र हो चुका है और) श्रीकृष्ण चरित्र तो अभी भावी है, भविष्य में होनेवाला है, उसका अनुम्मरण सम्भव नहीं हो सकता है। समाधि में तो उसी श्रीरामचरित्र को ही देखा क्योंकि श्रीवाल्मीकिजी ने श्रीरामचरित्र ही समाधि मे देखा था (उसी को व्यासजी ने भी देखा) दोनों का समाधि में देखा हुआ विषय भिन्न नहीं है, क्योंकि समाधि के ज्ञान की यथार्थ एक रूप

ज्ञानता है। किञ्च 'यह कवियों ने अविच्युत अर्थ को कहा कि जो उत्तम श्लोक के गुणों को अनुवर्णन करना है' इस श्लोक में 'कवि' पद श्रीवाल्मीकि महर्षि का बोधक है उन्हीं में प्रसिद्ध है, बहुवचन तो अभ्यर्हित (पूज्य) तया किया गया है जैसे 'वर्णितं व्यासपुत्रैः' यहाँ पर शुकदेव के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया ।

उत्तमश्लोकशब्दः श्रीरामवाचकः । यतः पंचम स्कन्धे श्रीराममन्त्रे 'उत्तमश्लोकायेत्युक्तं' तस्मादस्ति श्रीनारदस्योपासनं श्रीरामे । कोशलखण्डे श्रीराममहस्रनाम्नि 'नारदोपास्य उत्तमः, इत्यनेन 'वरं न याचे रघुनाथ युष्मत्पादाब्जभक्तिः सततं समास्तु । इदं प्रियं नाथ वरं प्रयच्छ पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे, इति रामस्तवराजवचनेन च नारदस्योपास्यः श्रीराम इत्युक्तम् ।

उत्तमश्लोक शब्द श्रीराम जी का ही वाचक है, क्योंकि पंचमस्कन्ध के श्रीराम मन्त्र में 'उत्तम श्लोकाय' यह विशेषण श्रीरामजी का दिया गया है, इसलिये श्रीनारदजी की उपासना श्रीराम विषयक ही है, तथा कौशलखण्डीय श्रीराम सहस्र नाम में 'नारदजी के उपास्य और उत्तम' इस वचन से और 'हे श्री रघुनाथजी मैं आप से वरदान नहीं मांगता हूँ किन्तु आप के श्रीचरणारविन्दों में निरन्तर भक्ति ही यही प्रियवरदान हम को दीजिये, इसी को मैं बारम्बार मांगता हूँ, इस रामस्तवराज के वचन से नारदजी के उपास्य देव श्रीरामजी ही सिद्ध होते हैं।

ब्रह्मणोऽपि श्रीरामोपासकत्वं, यतः 'अस्म-त्प्रसाद सुमुखः कलया कलेशः' इत्यत्रास्मदुपरि यः प्रसादस्तत्र सुमुख इत्यनेन स्वप्रसाद दातृत्वं श्रीरामस्योक्तं, कीदृशः ? कलया कलेशः = कलया = अंशेन । कलेशः = कलानामवताराणामीशः तथा च 'यस्यांश एव' सर्वावताराणामवतारी । अत एवोक्तं 'योरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीतटपीड़ितपादपीठ इति स्वयमीश्वराणां यानि श्रीमन्ति किरीट तटानि तैः पीड़ितं पादपीठं यस्य स एवोऽपि मृगैः = वानरैः सह सख्यमरोचयदिति । रामतापिन्यांतु स्पष्टमेव ब्रह्मणः श्रीरामोपासकत्वमुक्तम्, तस्मादस्त्येव ब्रह्मणोपि श्रीरामोपासकत्वम् । रुद्रस्यापि पाद्मोत्तरखण्डे श्रीरामोपासकत्वमुक्तम् तस्मात् श्रीरामस्य सर्वापेक्षयोत्कृष्टत्वं सिद्धम ।

श्रीब्रह्माजी भी श्रीरामजी के ही उपासक हैं, क्योंकि 'अस्मत् प्रसाद सुमुखः' यहाँ पर 'हमारे ऊपर जो प्रसाद उसमें सुमुख, इस कथन से अपने प्रसाद देने वाले श्रीरामजी हैं यह कहा गया है, वे श्रीरामजी कैसे हैं कि अंश से अवतारों के स्वामी हैं। तथा च 'जिन के अंश ही' 'सब अवतारों के अवतारी श्रीरामजी हैं, अत एव श्रीभागवत में कहा गया है कि 'जो स्वयं ईश्वरों के विशिष्ट किरीट तटों से पीड़ित चरण पीठ वाले भी श्रीरामजी वानरों के साथ मित्रता प्रिय मानते हैं' ॥ रामतापिनी में तो स्पष्टतया ब्रह्मा को श्रीरामजी के उपासक प्रतिपादन किये हैं, अतः श्रीब्रह्माजी का श्री रामोपासकत्व सिद्ध है । पाद्मोत्तरखण्ड आदि ग्रंथों में श्रीशंकरजी के भी उपास्य देव श्रीरामजी ही हैं यह कहा गया है। तस्मात् श्रीरामजी की सर्वापेक्षया उत्कृष्टता सिद्ध हुई ।

एवमेव सर्वेषां कृष्णावतारिणामुत्कृष्टत्वं ज्ञेयम् । दिक्प्रदर्शनार्थ श्रीरामस्यैवात्र तद्वर्णितम् । वस्तुतस्तु श्रीरामानन्द श्रीरामानुज निम्बादित्य विष्णुस्वामि माध्व श्रीधरस्वामिप्रभृति प्राचीनभागवतसिद्धान्त मते सर्वेषु पूर्णावतारेषु तारतम्यं नास्ति, अतः सर्वेपि श्रीभागवतादिप्रतिपाद्याः सन्ति । एवंस्थिते यदत्र 'श्रीकृष्ण एव श्रीभागवतादि प्रतिपाद्यः पूर्णः अन्येऽवतारा न भागवत प्रतिपाद्या न पूर्णाः किन्तु तदंशा' इत्यापाततो ग्रन्थानामर्थाभासेन श्रीरामाद्यवतीर्णेषु न्यूनत्वेन सन्दिहानास्तान् बोधयितुमेतादृशं निरूपण कृतम् । सिद्धान्तस्तु पूर्वोक्त प्राचीन महाभागवतादि सम्मत एव, अन्यथा एकस्मिन्नवतारे पूर्णत्वं, अन्येषु न्यूनत्वमङ्गीकृत्य द्वेषं कुर्वन्ति, तेषां द्वेषफलमेव भवति नतु भक्ति फलम् ।

इसी सरणी से सभी कृष्णादि अवतारियों की उत्कृष्टता समझनी चाहिये, सरणी समझाने के लिये श्रीरामजी की ही उत्कृष्टता यहाँ वर्णन की गई । वस्तुतः तो श्रीरामानन्दाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रोनिम्बार्काचार्य, श्रीविष्णुस्वामि, श्रीमाध्वाचार्य, श्रीधरस्वामि आदि प्राचीन भागवतों के मत से सभी पूर्णावतारों में तारतम्यता नहीं है। अतः सभी अवतार श्रीभागवतादिग्रन्थों के प्रतिपाद्य हैं ! इस स्थिति में "जो यहाँ श्रीकृष्ण ही भागवतादि प्रतिपाद्य और पूर्ण हैं अन्य अवतार न तो भागवत के प्रतिपाद्य ही हैं और न पूर्ण ही हैं किन्तु श्रीकृष्ण के अंश हैं" इस प्रकार आपाततः ग्रन्थों के अर्थाभास से श्रीरामादि अवतारों में न्यूनतया सन्देहवालों को समझाने के लिये इस प्रकार का निरूपण किया गया है, सिद्धान्त तो पूर्वोक्त प्राचीन महाभागवतादि सम्मत ही है, यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो एक अवतार में पूर्णता और अन्य अवतारों में न्यूनता को स्वीकार करके द्वेष करते हैं, उनको उपासना में द्वेष फल ही मिलता है भक्तिरूप फल नहीं मिलता ।

किंच यथा द्विविदांशस्य वानरस्य श्रीराम भक्तत्वेपि बलरामद्वेषादसुरत्वमेव जातम् । साक्षाद् द्विविदस्प तु अमृतप्राशनाद ब्रह्मणो वरदानाच्चावध्यत्वमस्ति, तथा चोक्तं - श्रीरामायणे सुन्दरकाण्डे- "अश्विपुत्रौ महावेगौ बलवन्तौ प्लवंगमौ । एतयोप्रतियोद्धारं न पश्यामि रणाजिरे ॥ पितामह वरोत्सेकात् परमं दर्पमास्थितौ । अमृतप्राशिनावेतौ सर्व वानरसत्तमौ ॥ अश्विनोर्माननार्थं हि सर्वलोकपितामहः । सर्वावध्यत्वमतुलमनयोर्दत्तवान् पुरा" इत्यादिना । यथा वा वराह भक्तस्य नरकस्य श्रीकृष्णद्वेषादसुरत्वमेव जातम् । लोकेऽपि पुरुषस्य सर्वाङ्गेषु चन्दनादिलेपनं कृत्वा एकस्मिन्नङ्गे प्रहारः कृतश्चेत्तस्यापराध एव पर्यवसन्नो भवति । तस्मात् सर्वेऽपि पूर्णा इत्यादि पूर्वोक्तमेव सम्यक् ।

इति श्रीगालवाश्रम गाद्याधिपति मधुररसाचार्य जगद्गुरु श्री १००८ श्रीमधुराचार्यकृते श्रीरामतत्व प्रकाशे श्रीरामस्य श्रीशुकाद्युपास्यत्व वर्णनं नाम षष्ठ उल्लासः ॥६॥

किञ्च जैसे द्विविद के अंश किसी द्विविद नामक वानर को श्रीराम भक्त होने पर भी बलराम से द्वेष करने से असुर भाव मिला। साक्षात् द्विविद की तो अमृत पीने से और ब्रह्माजी के वरदान से अवध्यता है, क्योंकि श्रीवाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड में 'अश्विनीकुमार के पुत्र, महावेग वाले बलवान दोनों मयन्द और द्विविद वानर हैं संग्राम में इन दोनों के साथ युद्ध करनेवाले किसी को नहीं देखता हूँ। ब्रह्माजी के वरदान के प्रभाव से परम दर्प को प्राप्त हैं। सब वानरों में श्रेष्ठ इन दोनों ने अमृत पिया है, अश्विनीकुमार के मान के लिये सर्वलोक पितामह श्रीब्रह्माजी ने इन को सब से अवध्य कर दिये हैं, इत्यादि से कहा गया है। अथवा जैसे वराह भगवान के भक्त नरक को कृष्ण के साथ द्वेष करने से असुर भाव ही प्राप्त हुआ। लोक में भी पुरुष के सर्वाङ्ग में चन्दन लेपन करके किसी एक अंग में प्रहार यदि करें तो अपराध में ही पर्यवसान होता है सेवा में नहीं। अतः सभी अवतार पूर्ण हैं यह पूर्वोक्त प्रकार ही ठीक है।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणचरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिध भाषाटीकायां षष्ठ उल्लासः समाप्तः ॥६॥

अथ सप्तमोल्लासः

इदानीं श्रीरामचरित्र बोधकानां श्री रामायणादि ग्रन्थानां विरोध परिहारः क्रियते, तत्र रावण कृत सीता हरणं तु मायिक सीतायाएवेति, कूर्माग्निपुराणाध्यात्मरामायणादावुक्तत्वेन न तात्त्विकायाः सीताया वियोग इति स्पष्टमेव । भूविवर प्रवेशेऽपि न सीता वियोगः - रामाश्वमेधे वाल्मीक्याश्रमादागताया सीतया सह सुवर्णपत्नीं दूरीकृत्य श्री रामस्य यज्ञकरणस्योक्तेः जैमिनि महाभारताश्वमेधेऽपि संयोग एवोक्तः । आपाततो वाल्मीकि रामायणात्प्रतीयते वियोगः, सोपि न सम्भवति 'दश वर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च । ययुस्तेषां तुमनसां यशः प्रथयतान भुवि। विहृत्य कालं परिपूर्णमानसा" इत्यनेनोदीच्य पुस्तकस्थपाठेन विहारस्यैकादश सहस्रवर्ष पर्यन्त मुक्तत्वात् । "अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभायथा" इत्यादि वचनैरविनाभावमम्बन्धस्योक्तत्वाच्च । तस्मात्प्रतीयमान वियोगस्तु माहेश्वरटीकोक्तः कलाभेद प्रकारेण समाधेयः ।

अब सप्तम उल्लास का आरम्भ करते हैं, सर्व प्रथम श्री राम चरित्र बोधक श्री रामायणादि ग्रन्थों का विरोध परिहार करते हैं, उसमें रावण का किया हुआ श्री सीता जी का हरण मायिक सीता का ही है यह बात कूर्म, अग्निपुराण, अध्यात्म रामायण आदि ग्रन्थों से सिद्ध होती है, तात्त्विक सीता का हरण और वियोग नहीं हुआ यह स्पष्ट ही है, एवं भूमि विवर प्रवेश समय में भी वियोग नहीं हुआ क्योंकि रामाश्वमेध में वाल्मीकि जी के आश्रम से आईं हुईं श्री सीताजी के साथ सुवर्ण मयी सीता को दूर कर के श्री रामजी का यज्ञ करना कहा गया है, और जैमिनि महाभारत अश्वमेध में भी संयोग ही कहा गया है। वाल्मीकीय रामायण से आपाततः जो वियोग प्रतीत होता है सो भी सम्भव नहीं है, क्योंकि-दश हजार १०,००० वर्ष और दश सौ १०,०० वर्ष पृथ्वी पर यश को विस्तार करते हुए उनके बीत गये, काल को बिता कर परिपूर्ण मानस - इत्यादि प्राचीन पुस्तकस्थ पाठ से विहार के ११,००० ग्यारह हजार वर्ष कहे गये हैं और 'सूर्य के साथ प्रभा की तरह श्री सीता हमसे अनन्या हैं', इत्यादि वचनों से निरन्तर अविनाभाव सम्बन्ध कहा गया है। तस्मात् प्रतीयमान जो वियोग है उसका तो माहेश्वर टीका में कथित कला (प्रकाश) के भेद प्रकार से समाधान करना चाहिये ।

"एवं तयोर्विहरतोः सीता राघवयोश्चिरम् । दशवर्ष सहस्त्राणि जातानि सुमहात्मनोः ॥ (वा. उ. ४२।२५) यज्ञे यज्ञे च पत्नयर्थं जानकी काञ्चनी भवेत्। दशवर्ष सहस्राणि वाजिमेधमथाकरोत्" (वा. उ. ९९।७) इत्यत्र दश सहस्त्रवर्षपर्यन्तं विहारः, भूविवरप्रवेशश्च ततो यज्ञकरणं दशसहस्रपर्यन्तमुक्तम् अनयोर्मेलने तु विंशतिसहस्राणि भवन्ति, तेषां त्वसम्भवात् कल्पभेदेनैव समाधातुमुचितत्वात् इति । इयं विवासनलीला कस्मिंश्चित्कल्पे जाता, न तु प्रतिकल्पं 'कदाचिल्लोक जिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः (भा. ९।११।८) इति श्री

भागवत वचनात् । तस्मिन्नपि कल्पे पूर्वोक्तप्रकारेण कलारूपेण वियोगोऽपिन वास्तविक किन्तु लोक दृष्ट्यैव ।

'इस प्रकार से महात्मा श्री सीता राघव के बहुत काल तक विहार करते हुए दशहजार वर्ष बीत गये, 'प्रति यज्ञ में पत्नी के लिये सुवर्ण की जानकी जी बनीं, इसके बाद दश हजार वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ किये ॥ यहाँ पर दश हजार वर्ष पर्यन्त विहार और भूमि प्रवेश कहा गया बाद में दश हजार वर्ष तक यज्ञ करना कहा गया है, इन दोनों कालों का योग करने पर बीस हजार वर्ष हो जाते हैं, उनका होना असम्भव है अतः कल्प भेद से ही समाधान करना उचित है। तथा यह जो विवासन (वियोग) लीला है सो किसी कल्प में हुई है, प्रति कल्प में नहीं होती है, क्योंकि 'कभी लोक हृदय जिज्ञासा से गूढ़ अलक्षित होकर रात्रि में सुने इस भागवत के वचन से सिद्ध है (जिस कल्प में विवासन लीला हुई है) उस कल्प में पूर्वोक्त प्रकार से कला (प्रकाश) रूप से ही वियोग हुआ है वास्तविक वियोग नहीं हुआ है और वह भी लोक दृष्टि से ही हुआ है।

वाल्मीक्याश्रमगमनमपि सीतायाः स्वेच्छयैव दोहदार्थं यतः पूर्वमेव प्रकाशभेदेन वाल्मीक्याश्रमे श्रीरामगमनस्य हरिवंशोक्तरीत्या जातत्वात्, तथाच हरिवंशे - 'वाल्मीकेराश्रमे पंच पंचभर्तृ पुरे तथेति, अतएव श्रीरामं प्रति तया तदेव याचितम् यदि वाल्मीक्याश्रम गमनम् श्रीरामेण मह सर्वथा वियोगरूप दुःख जनकं च स्यात्तदा तस्या अभिलाषाविषय एव न स्यात् । रामाश्वमेधेचत्वदिच्छया त्वमेवेतो गतारण्यं मुनिप्रियम् । पूजिता मुनिपत्न्यस्ताद्दृष्टा मुनिगणास्त्वया । पूर्णो मनोरथस्तेऽद्य किन्नागच्छसि भामिनि ॥ न दोषं मयि पश्येस्त्वमात्मेच्छाया विलोकनात् । इत्यनेन स्पष्टमेव तदभिलाष उक्तः । एवं च न वाल्मीकिरामायणेपि वियोगः अयमेवार्थो विस्तरेणाग्रे प्रतिपादयिष्यते।

श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में जाना भी श्रीसीताजी का अपनी इच्छा से दोहद के लिये हैं, क्योंकि पूर्व ही कल्प भेद से वाल्मीकि जी के आश्रम में श्रीरामजी का जाना हरिवंशोक्त प्रकार से सिद्ध है, तथा च हरिवंश में लिखा है कि "वाल्मीकिजी के आश्रम में पाँच और पाँच पति के पुर में" अतएव श्रीरामजी से सीताजी ने वही याचना की है। यदि वाल्मीकि के आश्रम में जाना श्रीरामजी के साथ सर्वथा वियोग रूप दुःख जनक होता तो श्रीसीताजी उसकी अभिलाषा ही नहीं करतीं, परंच रामाश्वमेध में - "आप अपनी इच्छा से ही यहाँ से मुनियों के प्रिय अरण्य को गईं और आप ने मुनि पत्नियों का पूजन किया और उनको तथा मुनिगणों को देखा, आपका मनोरथ पूर्ण हो गया तब अब हे भामिनि ! क्यों नहीं आतीं हैं ? हममें आप दोष को न देखें, आप विचारें कि आप अपनी इच्छा से ही गईं थीं ।" इस कथन से स्पष्टतया श्रीसीताजी की अभिलाषा प्रतीत होती है। एवं वाल्मीकि रामायण में भी वियोग नहीं है। इसी अर्थ को आगे विस्तार से मैं प्रतिपादन करूँगा ।

वाल्मीकि रामायण-अध्यात्मरामायण-पद्मपुराण रामाश्वमेध जैमिनिभारतादीनां नित्यसंयोगे एक कल्पविषयत्वेन विरोध परिहार आवश्यकः सोऽयस्मिन प्रकरणे क्रियते

। बालकाण्डे श्रीरामायणस्य 'वेदैश्चसम्मितम्' (वा. बा. स. १ श्लो -०७) इत्यनेन वेदसम्मितमिति वचनात श्रीभागवतस्य पाठभेदाः प्रमाणभूतास्तद्वत् ।

वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, पद्मपुराण, रामाश्वमेध जैमिनि-महाभारत आदि ग्रन्थों के नित्यसंयोग में एक-कल्प-विषयता होने से यदि किसी प्रकार का परस्पर ग्रन्थों में विरोध हो तो उस विरोध का परिहार करना आवश्यक है। वह विरोध-परिहार भी इसी प्रकरण में करता हूँ। बालकाण्ड मूलरामायण में श्रीरामायणजी को 'समस्त वेदों से सम्मत है', इस चचन से रामायण को वेद-सम्मत कहा है। जैसे श्रीभागवत के जितने भी पाठ-भेद हैं वे सब प्रमाणभूत हैं कोई भी पाठ अप्रमाणिक नहीं हैं। उसी प्रकार श्रीवाल्मीकिरामायणजी का वेदों की तरह अक्षर अक्षर प्रमाणभूत है।

ननु पूर्वोक्तानां वाल्मीकिरामायणप्रभृतीनां परस्परं विरुद्धार्थ प्रतीत्या कथमेक कल्पविषयत्वं, अन्यैस्तु विरोधे कल्पभेदेनैव ममाहितत्वादिति चेन्न, तत्र तत्र विरुद्धायमानानां वचनानां तत्तद्ग्रन्थार्थेनैवाविरुद्धार्थः प्रतीयते, अतएव जैमिनीय भारताश्वमेधे 'नाख्यातवानिदंयुद्धं वाल्मीकिः पितृ पुत्रयोः। यद्याख्यास्यदयञ्जिष्यल्लोकोऽयं करुणार्णवे' इत्यनेन रामायणस्य जैमिनीयभारतस्य चैककल्पविषयत्वमेव प्रतिपादितम् । भिन्नकल्प विषयत्वेतु कल्पभेदादेव वाल्मीकिना नोक्तामित्ये वावक्ष्यत् । एवमन्येषामपि यत्र यत्रापाततो विरोध उपलभ्यते तान्यपि अविरोधेनैवाग्रे संगमनीयानि-उक्तं च लघुभागवतामृतं 'यथा विरुद्धता न स्यात्तथार्थः कल्प्यते तयोः' इति । तत्र जैमिनीयभारताश्वमेध पद्मपुराणाश्वमेधयोरपि कथा एककल्पाभिप्रायेणैव ।

यदि कहो कि पूर्वोक्त वाल्मीकि रामायण आदि ग्रन्थों में परस्पर विरुद्धार्थ प्रतीत होता है, तब इनकी एककल्पविषयता कैसे है। अन्य टीकाकारों ने तो चरित्रों में विरोध होने पर कल्पभेद से ही समाधान किया है, तो सुनिये कि जहाँ जहाँ विरुद्धतया प्रतीयमान वचन हैं, उनकी तत्तत् ग्रन्थों के अर्थ से ही अविरुद्धार्थ की प्रतीति हो जाती है। अतएव जैमिनीयभारताश्वमेध में "वाल्मीकि महर्षि ने इस पितापुत्र के युद्ध का आख्यान नहीं किया, क्योंकि यदि वे कहते तो यह लोक करुणासमुद्र में निमग्न हो जाता।" इस वचन में रामायण और जैमिनीयभारताश्वमेध की एककल्पविषयता ही प्रतिपादन की है। यदि भिन्नकल्पविषयता मानते तब तो 'कल्पभेद होने से वाल्मीकि ने नहीं कहा, ऐसा कहते । एवं अन्य ग्रन्थों में भी जहाँ जहाँ आपाततः विरोध मिलता है उनका भी अविरोध से आगे समन्वय करना चाहिये, क्योंकि लघुभागवतामृत में कहा भी है कि 'जिस प्रकार से विरुद्धार्थता न हो जाय उस प्रकार से उनके अर्थ की कल्पना करते हैं, वहाँ पर भी जैमिनीयभारताश्वमेध और पद्मपुराणस्थ रामाश्वमेध में भी कथायें एक ही कल्प के अभिप्राय से हैं।

जैमिनीयभारताश्वमेधे हयपरिचर्यायां वाल्मीक्याश्रम कुशलवयोः शत्रुघ्नेन समं युद्धे श्रीरामलक्ष्मणभरतानां गमनं श्रूयते तद्रामाश्वमेधेऽनुक्तमपि ज्ञेयम्, रामाश्वमेधे सैन्योत्थापनं सीताशपथकृतं जैमिनिभारते तु वाल्मीकिकृतं तच्छत्रुघ्नसैन्योत्थापनं श्रीसीताशपथकृतमेव ज्ञेयं, इतर सैन्योत्थापनं तु वाल्मीकि कृतमित्यविरोधः । अन्यच्च जैमिनीये गृह्यतामिति वाल्मीकि वाक्यतां युद्ध यत्पुत्रयोर्न ग्रहणं अयोध्यायां च ग्रहणं तदयोध्यास्थजनप्रख्यापनार्थं ज्ञेयं, रामाश्वमेधे लवकुशयोर्युद्धे श्रीरामस्य गमनं नोक्तं, जैमिन्यश्वमेधानुसारेण तु तत्र युद्धे रामस्य गमनं बोध्यम् । जैमिनिभारते वाल्मीकिरामायणे च सीतामानेतुं यल्लक्ष्मणप्रेषणम् नोक्तम्, तद्रामाश्वमेधोक्त शाखान्तराधिकरण न्यायेनात्रापिज्ञेयम । तत्राध्यात्मरामायण पद्मपुराणादौ श्रीरामाविर्भावो विशेषतया प्रतिपादितः, वाल्मीकिरामायणे सामान्यत एव श्रीरामाविर्भावः प्रतिपादितस्तत्र विरोधपरिहारार्थं 'शाखान्तरोक्तस्य शाखान्तरे उपसंहार' इति न्यायेन वाल्मीकिरामायणेऽपि अन्यत्रोक्तानां विशेषाणां ग्रहणं कर्तव्यम् ।

जैमिनीयभारताश्वमेध में घोड़ों की परिचर्या में वाल्मीकिजी के आश्रम में शत्रुघ्न के साथ कुश और लव के युद्ध में श्रीराम, लक्ष्मण, भरतजी तीनों का गमन सुना जाता है। वह रामाश्वमेध में नहीं कहा गया तथापि जानना चाहिये । तथा रामाश्वमेध में सैन्य का उत्थापन श्रीसीताजी की शपथ से है और जैमिनि में तो वाल्मीकि से है। वह भी शत्रुघ्न की सेना का उठना श्रीसीताजी की शपथ से ही जानना चाहिये । वाल्मीकि ने जिस सेना को उठायी वह कोई दूसरी सेना थी ऐसा मानने से कोई विरोध नहीं आता है। अन्यच्च - जैमिनीयभारत में 'गृह्यतां' इस वाल्मीकि के वाक्य से युद्ध में जो पुत्रों का ग्रहण नहीं है, और अयोध्याजी में ग्रहण है, वह अयोध्यावासियों को दिखाने के लिये जानना चाहिये । श्रीरामाश्वमेध में लवकुश के युद्ध में श्रीरामजी का गमन नहीं कहा गया है तथापि जैमिनीयाश्वमेध के अनुसार उस युद्ध में श्रीरामजी का जाना समझ लेना चाहिये, तथा जैमिनीभारत और वाल्मीकि रामायण में श्रीसीताजी को लाने के लिये लक्ष्मणजी का भेजना जो नहीं कहा गया है सो रामाश्वमेध में कहा हुआ 'शाखान्तराधिकरण' न्याय से वहाँ भी समझना चाहिये । वहाँ अध्यात्मरामायण और पद्मपुराण आदिकों में श्रीरामजी का आविर्भाव विशेषतया प्रतिपादन किया गया और श्रीवाल्मीकिरामायण में सामान्यतया ही श्रीरामजी का आविर्भाव प्रतिपादित है। उस विरोध के परिहार के लिये 'अन्य शाखा में उपसंहार कर लेना चाहिये' इस न्याय से वाल्मीकि रामायण में भी दूसरे ग्रन्थों में कही हुई विशेषता को ग्रहण कर लेना चाहिये ।

एवं दश वर्ष पर्यन्तं बाल्यादिलीला शृङ्गारलीला चास्ति सा वाल्मीकि रामायणे नोक्ता तत्समाधानं तु - वाल्मीकि रामायणे वने गुप्ततया श्रीरामस्यावस्थानेन अयोध्यायां श्रीरामस्य स्थित्यभावात् वाल्मीकि ऋषेश्च वात्सल्यरसप्रधानत्वाच्छृङ्गार वात्सल्ययोश्च रसयोः परस्पर विरुद्धत्वात् स्पष्टतया नोक्तापि वक्ष्यमाणवचनैः सूचितेतिज्ञेयं, वाल्मीकि रामायणे उत्तरकाण्डे माहेश्वरीय टीका पुस्तकं 'त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचिद्विजानते ।

ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्व परिग्रहाम्' (वा० उ० स० ११०।१०) इति ब्रह्म वचने पूर्व परिग्रहामित्यनेन सीतापरिग्रहात् पूर्व परिग्रहः सूचितः । अत्र टीकायां माया शब्देन चिच्छक्तिरुक्ता 'चिच्छक्तौ च मायायां माया शब्दः प्रयुज्यते' इतिसन्दर्भात् ।

एवं दश वर्ष तक बाल्यादि लीला और श्रृङ्गार लीला है। वह वाल्मीकि रामायण में नहीं कही गई है। उसका समाधान तो यह है कि वाल्मीकि रामायण में वन में गुप्त तथा श्रीरामजी का अवस्थान होने से और अयोध्या में श्रीरामजी की स्थिति न होने से और वाल्मीकि ऋषि का वात्सल्यरस प्रधान होने से तथा वात्सल्य और श्रृंगार रसों में परस्पर विरोध होने से स्पष्टभाव से यह लीला नहीं कही गई भी वयमाण वचनों से सूचित की गई है, ऐसा जानना चाहिये । वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड में माहेश्वरीय टीका पुस्तक में "हे देव आप ही लोक की गति हो, आपको यथार्थ-रूप से कोई भी नहीं जानते हैं, केवल आपकी माया को जानते हैं, जो आपकी पूर्व परिग्रहा है" इस ब्रह्माजी के वचन ने 'पूर्व परिग्रहां' इस पद से श्रीसीतापरिग्रह से पूर्व परिग्रह सूचित किया। यहाँ टीका में माया शब्द से चित् शक्ति कही गई है क्योंकि 'चित् शक्ति और माया में माया शब्द का प्रयोग आता है। ऐसा सन्दर्भ में लिखा है।

स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः । 'अतो मायामयं विष्णु प्रवदन्ति मनीषिणः" इति भागवतामृत-धृतमाध्वभाष्य प्रामाणिक वचनाच्च मायाशब्देन गोपीचन्दनोपनिषदि काश्चन गोप्यो नामेति प्रश्नोत्तरे स्पष्टमेव महामायात्वमुक्तं, माहि श्रीरामाविर्भावोत्तरं ब्रजे गोपीत्वेन नतो मिथिलाधिपगेहे मैथिलीत्वेनाविर्भूता । अत्र श्लोके 'तव पूर्वपरिग्रहामित्यनेन मैथिली परिग्रहात् पूर्वपरिग्रहश्रुत्या विहारो बोधव्यः । रामार्चनचन्द्रिकायामपि रामनवमी प्रकरणे श्री रामजन्मनि 'निर्मितां द्विभुजां दिव्यां वामांकस्थित जानकीम् । विभ्रतीं दक्षिणकरे ज्ञान मुद्रां महामते । वामेनात्मकरेणापि देवीमालिंग्य संस्थिताम्, इत्यनेन सीतया सहध्यानमुक्तम् ।

स्वरूपभूता मायानाम्नी नित्य शक्ति से युक्त है । अतएव मनीषीजन विष्णु भगवान को मायामय (माया के सहित) कहते हैं' यह भागवतामृत में उद्धृत माध्वभाष्य के प्रामाणिक वचन से सिद्ध होता है। गोपीचन्दनोपनिषद में माया शब्द से किन्हीं गोपियों का नाम प्रसिद्ध है। यह उस उपनिषद् के प्रश्नोत्तर में स्पष्ट रूप से महा मायावत्व कहा गया है, वह श्री सीताजी भी श्रीराम जी के आविर्भाव के बाद व्रज में गोपी रूप से अवतीर्ण हुईं बाद को श्री मिथिलेश जी के घर में श्री मैथिली रूप से आविर्भत हुईं । इस श्लोक में 'तव पूर्व परिग्रहाम्' इस से मैथिली परिग्रह से पूर्वपरिग्रह का श्रवण होने से विहार बोधित होता है। श्री रामार्चन-चन्द्रिका में भी श्रीरामनवमी प्रकरण में श्रीरामजन्म के समय में' द्विभुज, दिव्य वामांक में स्थित श्री जानकी जी को ध्यान करे, दक्षिण हाथ में ज्ञान-मुद्रा को धारण किये हैं और अपने वाम हस्त से देवी श्री जानकी जी को आलिङ्गन करके स्थित हैं, इस वाक्य से श्री सीता जी के सहित ध्यान कहा गया है।

पाद्मोत्तरखण्डे श्रीरामप्रादुर्भावे - 'तस्य श्री पादकमले हस्ताब्जे च वरानने' इत्यत्र पादकमले हस्ताब्जे चेत्युक्त्या वामांकस्थितत्वं वामोरौ दक्षिण चरणस्य विद्यमानत्वेन पादकमले विद्यमानत्वं, हस्तेनालिङ्गितत्वाद्धस्ताब्जे विद्यमानत्वं तेन रामार्चनचन्द्रिकोक्तं सीताराम साहित्यमुक्तम् । श्रीरामतापिन्युक्त श्रुतावपि साहित्यमुक्तमस्ति, तथा च तत्र उक्तश्रुतेरर्थः - तद्ब्रह्म उत्तपन्नं सत्सीतया भाति यथा चन्द्रश्चन्द्रिकयाभातीति । उपक्रमोऽपि प्रादुर्भावस्यैवास्ति तथा च तस्याः श्रुतेरर्थः - रघोः कुते दशरथविषये चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ हरौ जाते सत्यखिलं राति राजते च स रामोलोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः इति ।

इति श्रीगालवाश्रम गाद्याधिपति मधुररसाचार्य जगद्गुरु श्री १००८ श्री मधुराचार्य कृते श्रीरामतत्त्वत्प्रकाशे श्री रामचरित्रप्रतिपादक वाक्यानांमिथोविरोधपरिहारो नाम सप्तमोल्लासः

पाद्मोत्तर खण्ड में श्री रामजी के प्रादुर्भाव के वर्णन में है वरानने ! उनके चरण-कमल, और हस्त-कमल में इत्यादि स्थल पर चरण-कमल और हस्त कमल इस कथन से वाम भाग में स्थितपन को तथा वामउरु पर दक्षिण चरण के विद्यमान रहने से पाद-कमल में विद्यमानता को और हस्त-आलिङ्गित होने से हस्त-कमल में विद्यमानता को कहा। इससे श्री रामार्चन चन्द्रिकांत श्री सीताराम जी का नित्य साहित्य कहा गया। श्री रामतापिनी में कही गई श्रुति में भी साहित्य कहा गया है, तथा च रामतापिनी में कही गई श्रुति का अर्थ यह है कि 'वह प्रगट हुआ ब्रह्म श्री सीता जी से सुशोभित होता है जैसे चन्द्रमा चाँदनी से सुशोभित होता है।' उपक्रम भी प्रादुर्भाव का ही है तथा च उस श्रुति का अर्थ यह है कि रघुकुल में श्री दशरथ जी के यहाँ चिन्मय महा विष्णु हरि भगवान के प्रगट होने पर अखिल चराचर को सुख देते हैं और जो सुशोभित होते हैं उनको विद्वान लोक में रामपद से प्रसिद्ध करते हैं।

इति श्री रामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिध भाषा टीकायां सप्तमोल्लासः ॥७॥

अथाष्टमोल्लासः

तत्राप्यनयोर्नित्य संयोगश्चास्ति तत्र प्रमाणं युद्धकाण्डे माहेश्वरटीकापुस्तके 'श्रीवत्सवक्षानित्य श्री' (वा. यु. स. १११-१३) तदर्थश्च नित्य अनपायिनी श्रीर्यस्येति । तथा 'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा (वा. यु. स. ११८-१८) इति भास्कर प्रभयोर्दृष्टान्ते-सीता राघवयोरविनाभाव सम्बन्धद्योतनेन नित्य संयागोऽबाधितः । पुनस्तत्रैव विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा । नहिहातुमिय शक्या कीर्तिरात्मवता यथा (वा. यु. स० ११८-१९) । इत्यत्रापि 'नहिहातुमियं शक्येत्यनेन वाल्मीक्याश्रमे श्री जानक्याः परित्यागो वास्तवो वारितः तेन लोक दृष्टयैवास्तीति सूचितम् ।

अब अष्टम उल्लास आरम्भ करते हैं। उसमें भी श्री सोताराम जी का नित्य संयोग है इस बात को प्रतिपादन करते हैं। उसमें प्रमाण माहेश्वरी टीका पुस्तकीय युद्धकाण्ड में 'श्री वत्सवक्षा नित्य श्री' यह श्लोक है, जिसका अर्थ यह है कि नित्या अनपायिनी श्रीजी जिनकी हैं। तथा 'भास्कर से प्रभा की तरह श्री सीताजी हम से अनन्या हैं, इस भास्करप्रभा दृष्टान्त द्वारा श्री सीताराम जी के अविनाभाव सम्बन्ध का द्योतन करने से नित्य सम्बन्ध निराबाध सिद्ध होता है। फिर भी उसी जगह पर कहा है कि 'जनकात्मजा श्री मैथिली जी तीनों लोकों में विशुद्ध हैं। आत्मवाला पुरुष जैसे कीर्ति को नहीं त्याग सकता उसी प्रकार श्री मैथिली जी को मैं नहीं त्याग सकता हूँ। यहाँ पर भी 'मैं नहीं त्याग सकता हूँ।' इस कथन से श्री वाल्मीकि जी के आश्रम में वास्तविक श्री जानकी जी का त्याग नहीं है, किन्तु लोकदृष्टि से ही है यह सूचित किया है।

पद्मपुराणे "नित्यैवैषा जगन्माता तव नित्याऽनपायिनी । यथा सर्वगतस्त्वंहि तथैवेयं रघूत्तम।" इत्यत्र सर्वगतत्वेन हरिवंशोक्तं वाल्मीक्याश्रमगमनमपि श्रीरामस्य सूचितम् । कोशलखण्डे 'तावुभौ सदैव सीतारामौ विद्युन्मेघाविव रममाणौ कोटि श्रीसेव्यमानौ, सन्तानवननिकुञ्जे कुञ्जप्रियौ कोशले वर्तेते' इति एवमन्यान्यपि नित्यसंयोगबोधकानि पुराणादि प्रसिद्धानि ज्ञेयानि । अतः सर्वदा सीताया विद्यमानत्वेन पूर्वपरिग्रहः सिद्धयति यथा श्रीभागवतादिषु श्रीकृष्णस्य ब्रजे गोपलीला रासादिलीलाः सन्ति, एवं श्रीरामस्यापि वाल्मीकि रामायणसहस्रनामादिषु तास्ता लीलाः सूचिताः सन्ति । तथाहि श्रीरामायणे श्रीरामप्रादुर्भावानन्तरं दशरथ एव 'छिद्रंहि मृगयन्तेऽत्र विद्वांसो ब्रह्मराक्षसा' इत्यत्र विद्वत्पदेन ब्रह्मराक्षसा एव जानन्ति श्रीरामोऽस्मद्वधार्थं जातस्तदर्थमेनं नेष्याम' इति मनोरथं ज्ञात्वा 'स ते कश्चिन्न यज्ञस्य विघ्नकृल्लोकरावणः । न शक्तास्तस्य संग्रामे वयं स्थातुंदुरात्मनः इति विश्वामित्रंप्रति बालकाण्डीय दशरथ वचनेन रावणभयादेव श्रीरामजन्मोत्तरममात्येषु राज्यं निक्षिप्य गोसेवनादि नपः कर्तुं गोपरूपेण गुप्ततया श्रीरामं व्रजेऽपनीतवान । श्रीकौशल्यापि गोपीरूपेण गता । तत्रोभयोर्नामान्तरेण व्यवहारः । यतः श्रीभागवते 'न वै स आत्मात्मवतां सुहृत्तमः शक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः (भा०

५।१९।५) इत्युक्तं तत्र वसुदेवस्यायं वासुदेव इति व्युत्पत्या वसुदेवपुत्रत्वं वसुं दीव्यतीति व्युत्पत्या वसुपतित्वं वसुदेवस्यापि सिद्ध्यति तेन वसुपुत्रत्वं चोक्तम् । अतएव कोशलखण्डस्थरामसहस्रनाम्नि- 'वासुदेवो वसूद्भवः' इति रामनामोक्तं, तत्र वसुदेवेति दशरथस्य नामान्तरं कौशल्याया वसुरिति नामान्तरम् ।

पद्मपुराण में 'यह श्रीमैथिलीजी नित्या है, और जगत की माता हैं। आप की नित्यानपायिनी हैं, । जैसे आप सर्वगत हैं, उसी प्रकार से हे रघूत्तम ! ये श्रीमैथिलीजी भी सर्वगता हैं' । यहाँ पर सर्वगत कहने से हरिवंश में कहा गया वाल्मीकिजी के आश्रम में जाना श्रीरामजी का भी सूचित हुआ। कोशलखण्ड में 'यह दोनों श्रीसीताराम बिजुली और मेघ के सदृश रमण करते हुये करोड़ों श्रियों से सेवित अयोध्यास्थ सन्तानक वन की निकुञ्ज में कुञ्जप्रिय दोनों सर्वदा वर्तमान हैं। इसी प्रकार से अन्य भी नित्यसंयोगबोधक पुराणादि प्रसिद्ध प्रमाणों को जानना चाहिये। अतः श्रीसीताजी के सर्वदा विद्यमान रहने से पूर्वपरिग्रह सिद्ध होता है, जैसे भागवतादि ग्रन्थों में श्रीकृष्ण की व्रज में गोपलीलायें और रासादि लीलायें हैं उसी प्रकार श्रीरामजी की भी वाल्मीकि रामायण, सहस्रनामादि ग्रन्थों में उन-उन लीलाओं का सूचन किया है। तथाहि-श्रीरामायण में श्रीरामजी के प्रादुर्भाव के बाद श्रीदशरथजी ही रावण के भय से मंत्रियों को राज्यभार देकर गोसेवनादिरूप से तप करने के लिये गोपरूप से गुप्ततया श्रीरामजी को ले गये। यह बात 'विद्वान् ब्रह्मराक्षस' छिद्र को ही खोजते हैं। यहाँ पर विद्वत् पद ब्रह्मराक्षस परक हैं। वे इस बात को जानते हैं कि श्रीरामजी हमारे मारने के लिये अवतीर्ण हुये हैं। उन्हीं के लिये इनको मैं ले जाऊँगा। ऐसा मनोरथ विश्वामित्र जी का जानकर ही 'लोकरावण वह रावण आप के यज्ञ का विघ्न करनेवाला नहीं है (अर्थात् आप तो अपने यज्ञ की स्वतः रक्षा करनेवाले हैं)। दुरात्मा उस रावण के संग्राम में मैं ठहरने को समर्थ नहीं हूँ। इस विश्वामित्र के प्रति दशरथजी के वचन से ही सिद्ध होता है। श्रीदशरथजी के साथ श्रीकौशल्यादेवी भी गोपी रूप से साथ गई थीं। वहाँ दोनों का दूसरे नाम से व्यवहार था, क्योंकि भागवत में 'आत्मावालों का आत्मा सुहृत्तम भगबान् वासुदेव त्रिलोक में समर्थ हैं।' यह कहा गया है यहाँ वसुदेव के यह पुत्र वासुदेव कहे गये इस व्युत्पत्ति से वसुदेव के पुत्र सिद्ध हुये और 'वसुं दीव्यति, (अर्थात् वसु को दीव्यति मोद पहुँचाना) इस व्युत्पत्ति से वसुदेव का नामान्तर वसुपति सिद्ध होता है । अतः वासुदेव शब्द से वसुपुत्र भी सिद्ध हुये। अतएव कोशलखण्डस्थरामसहस्रनाम में 'वसुदेव और वसूद्भव' ये नाम श्रीरामजी के कहे गये हैं। तब तो वसुदेव यह दशरथ का दूसरा नाम हुआ । और कौशल्याजी का वसु दूसरा नाम हुआ ।

कौशल्याया व्रजे सरस्वतीति मुख्यं नाम । यतः पद्मपुराणस्य रामसहस्रनाम्नि 'सरस्वतीजातः' इति नामोक्तम् । तत्रैव वने जनकस्य सपरिवारस्य श्रीराम जन्मोत्सवदर्शनार्थं दशरथस्य मैत्र्यनुरोधेन चायोध्यास्थे मानसे सरस्यवस्थानं ततो यस्मिन समये श्रीरामप्रादुर्भावस्तदैव मानसे सरसि श्रीजानक्याः प्रादुर्भावस्ततो रावणादिभयेन गोपरूपेण स्थित्वा तस्याः पालनं ततो वक्ष्यमाणरीत्या जानक्यां रावणेन हृतायां,

मिथिलायां यज्ञवाटे गमनं ततो लाङ्ग लाग्रेण सीताया उत्पत्तिः । अतएव षड्वार्षिक्याः सीताया विवाह उक्तः ।

श्रीकौशल्याजी का व्रज में सरस्वती नाम मुख्य था, क्योंकि पद्मपुराणीय राम-सहस्रनाम में 'सरस्वतीजातः' यह नाम कहा गया है। जिस वन में श्रीदशरथजी थे उसी वन में सपरिवार श्रीजनकजी का श्रीरामजन्मोत्सव देखने के लिये जाना, और श्रीदशरथजी की मैत्री के अनुरोध से अयोध्यास्थ मानस सरोवर के उपर अवस्थान करना, ततः जिस समय श्रीरामजी का प्रादुर्भाव हुआ उसी समय मानस सरोवर पर श्रीजानकीजी का प्रादुर्भाव होना, और रावणादि के भय से गोपरूप से रहकर जानकीजी का पालन करना, तदनन्तर वक्ष्यमाण रीति से जानकीजी को रावण हरण कर ले गया, पुनः मिथिला में यज्ञवाट में श्रीजानकीजी का जाना, तत्र श्रीजानकीजी का हल के अग्रभाग की रेखा से उत्पत्ति होना, अतएव षट (६ वर्ष की अवस्था में श्रीसीताजी का विवाह होना कहा गया है।

पूर्वं मिथिलायां जनकस्य गमनाभावे प्रमाणं तु - श्री रामायणे दशरथयज्ञोत्तरं विदाय उक्तो नास्तीति सेयम् । जनकस्य सकुटुम्बस्य व्रजे गोपरूपेणावस्थाने प्रमाणन्तुव्रजे श्री जानकी प्रादुर्भावस्तस्या गोपीत्वं च, तत्र प्रादुर्भावे प्रमाणं - श्री रामायणे उत्तरकाण्डे माहेश्वरी टीका पुस्तके - पुनरेव समुद्भूता पद्मे पद्म सम प्रभा । तस्मादपि पुनः प्राप्तां पूर्ववत्तेन रक्षसा । कन्यां कमलवर्णाभां प्रगृह्य स्वगृहं ययौ । प्रविश्य रावणश्चैतां दर्शयामास मन्त्रिणे । लक्षणज्ञो निरीक्ष्यैव रावणस्येदमाह च । गृहस्थैषा हि सुश्रोणी त्वद्वधायैव दृश्यते । एतच्छ्रुत्वार्णवे राम संप्रचिक्षेप रावणः । सा चैव क्षितिमासाद्य यज्ञायतन मध्यगा । राज्ञो हलमुखाग्रस्था पुनरभ्युत्थिता सती । सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो । तव भार्या, महाबाहो विष्णुस्त्वं हि सनातनः । पूर्वं क्रोधहतः शत्रुर्ययासौ घातितस्त्वया । उपाश्रयित्वा शैलाभं तव वीर्यममानुषम् । एवमेषा महाभागा पुनर्मर्त्येष्व जायत । क्षेत्रे हल मुखोत्कृष्टे वेद्यामग्निशिखोपमा । एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत्कृते युगे । सीतोत्पन्नेति सीतेति मानुषैः पुनरूच्यते । त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः । उत्पन्ना मैथिलकुलं जनकस्य महात्मनः (वा. उ. स. १७ श्लो. ३४-४३)

प्रथम श्रीरामजन्मोत्सव में आये हुए श्रीजनकजी का पुनः मिथिला में न जाने का प्रमाण तो यही है कि श्री रामायण में श्री दशरथ जी के यज्ञ के बाद विदाई नहीं कही गई है। यद्यपि यज्ञान्त में राजाओं का विसर्जन किया गया है तथापि जिस प्रकार यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये जब निमंत्रण दिया गया उस समय 'ततः सुमन्त्र मानीय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् । निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ॥ ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्राश्चैव सहस्रशः । समानयत्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् । मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम् । निष्ठितं सर्वशास्त्रेषु तथा वेदेषु निष्ठितम् । तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् । पूर्वं सम्बन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्व ब्रवीमि ते ॥ (वा. बा. स. १३ श्लो. १९-२२) जैसे सब राजाओं के निमन्त्रण में श्री मिथिलेश जी का निमन्त्रण

सिद्ध होते हुए भी जो पृथक् निमन्त्रण देने के लिये कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये कि केवल राजाओं की ही विदाई कही गई है, मिथिलेश जी की नहीं जिससे सिद्ध होता है कि श्री मिथिलेश जी नहीं गये, परिवार के सहित श्री मिथिलेश जी व्रज में गोप रूप से रहे। इसमें प्रमाण तो यही है कि व्रज में श्री जानकीजी का प्रादुर्भाव होना और उनका गोपी रूप से वहाँ रहना। (यदि कहो कि) व्रज में श्रीजानकी जी के प्रादुर्भाव होने में क्या प्रमाण है ? तो सुनो माहेश्वर टीका पुस्तकस्थ वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में- 'कमल के समान प्रभावाली कमल से फिर भी प्रकट हुई, वहाँ से उस राक्षस ने पूर्व की तरह फिर भी प्राप्त कर ली और कनक के वर्णवाली उस कन्या को ग्रहण कर अपने घर को गया लंका में प्रवेश कर के रावण ने अपने मंत्री को दिखायी। वह मन्त्री लक्षणों का जानने वाला था। उसने इनके लक्षणों को देख कर रावण से कहा कि यह सुश्रोणी घर में रह कर तुम्हारा वध करनेवाली दिखाई पड़ती है। इस बात को सुनकर हे रामजी ! रावण ने इन को समुद्र में फेंक दिया। यह देवी फिर से पृथिवी को प्राप्त कर मिथिलेश महाराज की यज्ञशाला की मध्य भूमि में स्थित हो गई, और जब महाराज ने यज्ञ भूमि का हल से कर्षण किया उस समय हल के मुख के अग्रभाग से फिर भी प्रगट हो गईं। हे प्रभो ! यह वही श्री जनकराज के यहाँ प्रगट हुईं, हे महाबाहो, यह आपकी भार्या हैं। आप सनातन विष्णु हैं। इन देवी ने पहले ही इस शत्रु को क्रोध से मार दिया था अर्थात् मृतप्रायः कर दिया था। उसी को इन्हीं देवी ने शैल के समान आपके अमानुष वीर्य का आश्रयण कर आप के द्वारा मारा है। इस प्रकार हे महाभाग ! यह देवी फिर इस मर्त्य लोक में पैदा हुईं। अर्थात् हल-मुख से जोते हुये क्षेत्र में - वेदी में अग्नि की शिखा के सदृश प्रगट हुईं। इनका कृत युग में वेदवती नाम था और इस समय हल की रेखा से प्रगट हुईं इसलिये मनुष्य इनको सीता कहते हैं। इस त्रेतायुग में भी उसी राक्षस के वध करने के लिये इस नाम को प्राप्त होकर महात्मा जनक के मैथिल-कुल में उत्पन्न हुईं।

इत्यत्र 'पुनरेव इत्यनेन पद्म पूर्वमवतारः सीताया जातस्तदुत्तरं लाङ्ग लाग्रेण वेद्यामुत्पत्तिर्जाता। मरुदेशीय पुस्तके पाठान्तरमपि 'कस्मिश्चिदवतारं पर ब्रह्म मयं महः। पपाताकाश मध्याच्च वीर्यं सरसि मानसे। पद्मे ब्रह्ममयं वीर्यं पद्मकोशेनदाभवत्। तत्पद्मखण्डात् पद्मानि बटुको गृह्य सत्वरम्। पूजार्थं देवतानां हि रावणाय न्यवेदयत्। तत्कुले ददृशे कन्यां साक्षाद्ब्रह्ममयीमिव। ज्ञानिनो ब्राह्मणा दृष्ट्वा त्वद्वधाय भविष्यति। इति श्रुत्वा वचो घोरं रावणो दुष्ट चेतनः। आदिदेश वधायास्या मृत्युर्हि मम दुर्भरा। पेटिकायां समाक्षिप्य मुक्ता गंगाजले शुभे। काश्यां प्राप्य तदाभूमौ प्रविष्टा मा शुभानना। सैषा जनकराजस्य प्रभूता तनया प्रभो। तव भार्या महाबाहो त्वंहि विष्णुः सनातनः। विदेहो जनकः काश्याम् प्राप्तवान् कन्यकां शुभाम्। एवं तवावतारोहि सीतायाश्चापि सर्वतः। पूर्वं क्रोध हतः शत्रुर्ययासौ घातितस्त्वया। समुपाश्रित्य शैलाभं तव वीर्य्यममानुषम्। एवमेषा महाभाग पुनर्मर्त्येष्वजायत। क्षेत्रे हलमुखोत्कृष्टे जनकस्य महात्मनः। इत्यत्र "जनक राजस्य प्रसूता तनया विभो। एवमेषा महाराज पुनर्मर्त्येष्वजायत।" इत्यादिना श्रीसीताया

अवतारद्वयमुक्तम । "जनक राजस्य प्रसूता तनया ।" इत्येकावतारः । "हलमुखोत्कृष्टे" इति द्वितीयोवतारः । अतएव पुनः पदसार्थक्यम् ।

यहां पर "पुनरेव" इस वाक्य से कमल में पहला अवतार श्री सीताजी का हुआ और उसके बाद दूसरा अवतार हल के अग्र भाग से वेदी में हुआ । मरुदेशीय पुस्तक में पाठान्तर भी है। (वह इस प्रकार से है) "किसी अवतार में परब्रह्ममय तेज वीर्य्य रूप से आकाश मंडल से मानस सरोवर में गिरा । वह ब्रह्ममय वीर्य्य कमल के कोष में हो गया। उस कमल को पद्म समुदायों में से अनेक कमलों के साथ एक ब्रह्मचारी ने शीघ्रता से लेकर देवताओं की पूजा के लिए रावण को निवेदन क्रिया । उस कमल में साक्षात ब्रह्ममयी कन्या दिखाई पड़ी । विद्वान ब्राह्मण उस कन्या को देख कर "हे रावण ! यह कन्या तुम्हारे वध के लिए होगी । इस घोर वचन को दुष्टचित्त वाले रावण ने सुनकर कन्या को मारने के लिए आज्ञा दी। क्योंकि यह हमारी दुर्भर मृत्यु है। उस कन्या को पेटी में रख कर शुभ गङ्गाजल में त्याग दिया । वह शुभानना कन्या काशी में आकर भूमि में प्रविष्ट हो गई । वही कन्या हे प्रभो ! जनकराज के यहाँ आविर्भाव हुई । हे महाबाहो, वह आप की भार्य्या हैं। आप सनातन विष्णु हैं। विदेह जनक महाराज ने काशी में इस शुभ कन्या को प्राप्त किया था। इसप्रकार आपका और श्री सीताजी का सर्वत्र अवतार है। पहले यह शत्रु जानकी जी ने क्रोध से मारा था जिसको इस समय शैल के समान आपका आश्रयण करके आपके द्वारा मारा है। इस प्रकार यह महाभागा देवी फिर भी मर्त्यलोक में महात्मा जनक के हल खींचते हुए क्षेत्र में प्रकट हुईं।" यहाँ पर "जनकराजस्य प्रसूता तनया विभो" इत्यादि श्लोक से श्री सीताजी के दो अवतार कहे गये । 'जनक राजस्य प्रसूता" इस करके एक अवतार और "हलमुखोत्कृष्टे" इस करके दूसरा अवतार कहा गया है। अतएव "पुनः" पद की भी सार्थकता होती है।

तथा च प्रथमतः श्री सीताया उत्पत्तिः पद्मे तथाहि जनक वीर्यं मानसे सरसि पद्मे पतितं । तेन पद्म कोश उत्पत्तिः । साच फाल्गुन कृष्णाष्ठम्यामतएव वीर पुत्रोदये फाल्गुन कृष्णाष्टमी प्रक्रम्योक्तं "जाता दाशरथेः पत्नी तस्मिन्नहनि जानकीति" ततो रावण निकटे वटुनानीता तेन च पेटिकायामाक्षिप्य गंगाजलेत्यक्ता । सा च काश्यां भूमौ प्रविष्टा जनकेन प्राप्ता । इयं सीता प्राप्तिर्वैशाख शुक्ल नवम्यां पुष्य नक्षत्रे भौम वासरे इदं प्रतिपादितं भविष्योत्तर पुराणे । श्रीसीता जन्म कथायां 'मासि पुण्यतमे विप्र माधवे माधवप्रिये । नवम्यां शुक्लपक्षे च वासरे मंगले शुभे । पुष्पऋक्षे च मध्याह्न जानकी जनकालये । आविर्भूता स्वयं देवी योगेष्वेतेष्वनुत्तमेति, अत्र काश्यांयज्जनक गृहम् गंगा तीरवर्ति तत्रैव बोध्यम् । भूमौप्रविष्टायाः प्राप्तिस्तु जनकेन फालेन खनित्वा निस्सारिता ।

तथाच प्रथम तो श्री सीताजी की उत्पत्ति पद्म में हुई। श्री जनक राज का वीर्य्य मानस सरोवर में स्थित कमल में गिरा। इसलिए पद्मकोश से उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति फाल्गुन कृष्णा अष्टमी तिथि को हुई। अतएव वीर पुत्रोदय नामक ग्रंथ में फाल्गुन कृष्णाष्टमी का प्रक्रम करके कहा है कि 'इस दिन दशरथ नन्दन श्री रामजी की पत्नी श्री जानकीजी की उत्पत्ति हुई ।' इति । पद्मकोश उत्पत्ति

के बाद ब्रह्मचारी रावण के पास ले गया । उसने पेटी में रखकर गंगाजल में त्याग कर दिया । वह पेटी काशी में पृथ्वी में घुस गई थी । उसको जनकजी ने प्राप्त किया । यह सीताजी की प्राप्ति वैशाख शुक्ल नवमी पुष्य नक्षत्र भौमवार को हुई । यह प्रतिपादन भविष्योत्तर पुराण में श्री सीताजी की जन्म-कथा में कहा गया है कि "पुण्यतम माधवप्रिय वैशाख महीने में शुक्ल पक्ष नवमी तिथि शुभ मंगल वासर पुष्य नक्षत्र मध्याह्न काल में श्री जनकराज के घर इन योगों में स्वयं देवी श्री जानकीजी प्रकट हुई।" यहाँ काशी में श्री गंगाजी के किनारे जो श्री जनकजी का घर है वहीं अवतार हुआ यह जानना चाहिए। भूमि में प्रविष्ट श्री जानकीजी की प्राप्ति तो श्री जनकजी ने फाल से खोद कर निकाली हैं, इस प्रकार जानना चाहिए ।

अतएवोत्तरकाण्डे वसुधां प्रति श्रीरामवचनम्- 'कामंश्वश्रुर्ममैव त्वं त्वत्सकाशात्तु मैथिली । कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्‌धृता पुरा' (वा० उ० स० ९८ श्लो० ७) इति, पुनर्गोपलीलायां व्रजेस्थिता, ततो गोपलीलोत्तरं श्रीरामे अयोध्यायां गते सति पद्मे लीना, ततो रावणेन स्वयमपहृता, पुनस्तेन समुद्रेक्षिप्ता, सा च भूमौ प्राप्ता, ततो हलमुखोत्कृष्टा सती हलात्प्रादुर्भूता । इदं जन्म फाल्गुन पौर्णिमायामुत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रे, अतएवोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे "अथ लोकेश्वरी लक्ष्मीर्जनकस्य पुरे स्वतः । शुभेक्षेत्रे हलोत्खाते तारेचोत्तरफाल्गुने । अयोनिना पद्मकरा बालार्कशतसन्निभा । सीतामुखे समुत्पन्ना बालभावेति सुन्दरी" इति रामायणतिलके पाद्मे नक्षत्रमुक्तं पौर्णमासी तु शुभक्षेत्रे हलोत्खाते सुनासीरे शुभेक्षणा इत्यत्र सुनासीर पर्वणा चातुर्मास्यान्तर्गतेन फाल्गुनी पौर्णमास्याद्याति, तस्याः फाल्गुन पौर्णिमायां सम्भवात् । यत्र तु यज्ञे हलमुखोत्खातेनोत्पत्तिरुक्ता तत्र सौमिकानि चातुर्मास्यानि ग्राह्याणि ।

अतएव वाल्मीकीय उत्तरकाण्ड में पृथ्वी के प्रति श्रीरामजी का वचन है कि "हे पृथ्वी, तुम हमारी सासु हो, क्योंकि हल के द्वारा पृथ्वी का संशोधन करते हुए जनक राज ने तुम से ही श्री मैथिली को प्राप्त किया है।" यह वचन सङ्गत होता है। फिर भी गोप-लीला करने में व्रज में रहीं और गोप-लीला के बाद जब श्रीरामजी अयोध्याजी में चले आये तब आप कमल में लीन हो गईं। बाद को रावण स्वयं हर ले गया । पुनः, उसने समुद्र में फेंक दिया । फिर वह भूमि पर प्राप्त हुईं । तब हलमुख से पृथ्वी के शोधन में हल की रेखा से प्रादुर्भूत हुईं। यह जन्म फाल्गुन पूर्णिमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुआ । अतएव पद्मपुराण उत्तरखण्ड में कहा है कि "अथ लोकेश्वरी श्रीलक्ष्मी जी महाराज श्री मिथिलेश जू के पुर में शुभ क्षेत्र (यज्ञभूमि) को हल से उत्कर्षण करने पर उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में अयोनिजा रूप से कमल को हाथ में लिए हुए करोड़ों सूर्य के समान प्रकाश वाली हल की रेखा से प्रकट हुईं । बालभाव में भी अति सुन्दरी थीं ।" इति ! रामायण तिलक और पद्मपुराण में नक्षत्र कहा गया है। पूर्णिमा तो "शुभेक्षेत्रे" इस श्लोक में सुनासीर पर्व चातुर्मास्य के अन्तर्गत न होने से फाल्गुनी पूर्णिमा सिद्ध होती है क्योंकि उसका फाल्गुनी पूर्णिमा में सम्भव है

और जहाँ पर हल-मुख के द्वारा यज्ञ में उत्पत्ति कही गई है वहाँ सौमिक (चन्द्रमासंबन्धी) चातुर्मास्य ग्रहण करना चाहिए ।

जनक वीर्यं पद्मेतूपरिचरवसोर्वीर्यं यथा मत्स्यमुखे पक्षिद्वारा पतितं तथात्रापि पक्षिद्वारा देवताद्वारा वा पतितं ज्ञेयम् । अतएव जनकजा, जनकप्रसूता, इत्यादि पदानि सम्यक् स्वार्थं संगतानि । तथा च प्रथमं जन्म व्रजीय मानस सरसि पद्म जातम् । अतएव "पद्मा" इति श्रीसीतायाः नाम । तच्च सर इदानीमपि नन्दीग्राम निकटे प्रसिद्धमस्ति । किञ्च "त्वंहि लोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते । ऋते मायां विशालाक्षि तव पूर्व परिग्रहाम्" (वा० उ० ११०।१०) इति सीता परिग्रहात् पूर्व परिग्रह उक्तस्तेनापि विवाहात् पूर्व श्रीसीताया विहारः सूचितः तेन व्रजे जन्म प्रथमं सूचितम् ।

श्रीजनकजी का वीर्य कमल में तो जिस प्रकार उपरिचरवसु का वीर्य मत्स्य के मुख में पक्षि के द्वारा गिरा उसी प्रकार यहाँ भी पति के द्वारा अथवा किसी देवता के द्वारा गिरा यह जानना चाहिये । अतएव "जनकजा, जनकप्रसूता" इत्यादि पद अच्छी प्रकार से अपने अर्थ में संगत होते हैं। तथा च पहला जन्म श्री मैथिली जू का व्रज में होने वाले मानस सरोवर के कमल में हुआ। अतएव "पद्मा" यह श्री किशोरी जी का नाम है। वह सरोवर इस समय में भी नन्दीग्राम के निकट प्रसिद्ध है। "किंच त्वंहि लोक गतिः" इस श्लोक से श्री सीता परिग्रह से पूर्व परिग्रह कहा गया है; इसलिए भी विवाह के पहले श्री सीताजी के साथ विहार सूचित होता है। इस से व्रज में प्रथम जन्म सूचित किया ।

व्रजेच श्री सीरध्वजाख्यस्य जनकस्य नामान्तरं धर्म इति । यतः श्रीजानकी सहस्रनाम्नि "धर्म्मभव।" इत्युक्तम् । जनकस्य सीरध्वजेति नाम श्रीभागवते सीता सीराग्रतो जाता तस्मात् सीरध्वजः स्मृतः ९।१३।१८ इति । सुमत्याख्यायाः मातुश्च शारदेति नाम । यतस्तत्रैव "शारदाकुल भूषितेत्युक्तम्" । जनकपत्न्याः सुमति नाम कालिकापुराणे उक्तं नरकासुरप्रसंगे "जानामि पितरं चाहं विदेहाधिपतिं नृपम् । तस्य भार्य्यां सुमत्याख्यामहं जानामि मातरम्" इति । गुहेति तस्यानामान्तरम् । यतस्तत्रैव गुहोद्भवेत्युक्तम् । वेणुरित्यपि नाम यतो 'वेणुभवा' इत्युक्तम् । माधवीतिच नामान्तरम् ।

व्रज में श्रीसीरध्वज नाम वाले श्री जनक जी का दूसरा नाम धर्म था। क्योंकि जानकी सहस्रनाम में 'धर्मभवा' यह नाम कहा गया है। जनकजी का सीरध्वज यह नाम भागवत् में प्रसिद्ध है, क्योंकि सीरा के अग्रभाग से सीताजी प्रकट हुई, इसीलिये मिथिलेश का नाम सीरध्वज हुआ । श्रीकिशोरीजी की द्वितीय माता का नाम सुमति है। उन्हीं का दूसरा नाम शारदा है। क्योंकि उसी सहस्रनाम में 'शारदाकुलभूषिता' यह नाम कहा गया है। श्रीमिथिलेश जू की पत्नी का नाम सुमति था। यह नाम कालिकापुराण के नरकासुर प्रसंग में कहा गया है कि विदेहाधिपति राजा जो इनके पिता है उनको मैं जानता हूँ और उनकी भार्या श्रीसुमतिजी को भी जानता हूँ जो कि इनकी माता

हैं। गुहा भी सुमतिजी का दूसरा नाम है। क्योंकि उसी सहस्रनाम में "गुहोद्भवा" यह नाम आया है तथा 'वेणुभवा', 'माधवी' आदि भी उनके नामान्तर ही हैं।

श्रीरामायणेपि सीतोत्पत्तो "यदि त्वस्ति मया किंचित् कृतं, दत्तं हुतं तथा । तस्मात् त्वयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता" । (वा० उ० स० १८ श्लो० ३२) इति । साधु शब्दस्य हेमानेकार्थे वाधुषिकार्थत्वेन, साधोरियं, साध्वीति विग्रहारोपित्वं श्रीजानक्याः सूचितम् । कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं कुसीदं तुर्यमुच्यते इति श्री भगवतात् वृद्ध्याजीवनं वैश्या नामस्ति तेन रामायणेपि सूचितं तस्या गोपीत्वं, श्रीरामायणेऽयोध्याकाण्डे अनसूयां प्रति सीता वाक्येनापि श्रीसीताया पूर्वमुत्पत्तिर्धर्म्म नामक जनकस्य गृहे भित्वा जगतीं नृपतेः सुता । स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टि विक्षेप तत्परः ॥ पांसु लुण्ठित सर्वांगी जनको विस्मितोभवत् । अनपत्येन च स्नेहादंकमारोप्य च स्वयम् । ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहोमयि निपातितः इति । ततः आकाशवाणी "एवमेतन्नरपते धर्मेणतनया तव । ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः । अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ दत्ताचाभीवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यः कर्मणा । तया सम्भाविता चास्मि स्निग्धया मातृ सौहृदात् इति (वा० अ० स० ११८ श्लो २८-३३)। अत्र नृपतेः सुताहं जगतीं भित्वोत्थितेयनेन नृपतिसुतात्वं पूर्वं सिद्धमस्तिति सूचितम् । यथा श्रुते ममेयं तनयेत्युत्तर वाक्ये बाधितं स्यात् । तत् आकाशवाणी । "एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव" इत्यस्यार्थः । यत् इयं पूर्वमेव धर्मेण धर्म नामकेन तवरूपेण त्वत्तनयेति सत्यमेवेति । धर्मात्मा इति धर्मनामकात्मेत्यर्थः अतएव 'भवेयंधर्मिणः सुता" इति सीतावाक्येऽपि । 'धर्म, इतिनामास्यास्तीति धर्मो तस्याहं सुतेत्यर्थो बोध्यः अकारो माधवः स योनिः कारणमस्या इत्ययोनिर्माधवी तस्याः सकाशाज्जाता इत्ययोनिजा । अनेन सिद्धेश्वर तन्त्रोक्त श्रीसीतासहस्रनाम्नि 'माधव्यानन्ददेति, माधवी माता तस्या आनन्ददेति श्रीजानक्या नाम तन्मातुर्माधवीति नाम माधवस्येयं माधवीति व्युत्पत्या सूचितम् ।

श्रीसीताजी की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि "यदि मैंने कुछ भी किया, दिया, हवन किया हो तो अयोनिजा साध्वी धर्मी की सुता होवे" साधु शब्द हेमादि कोशों के प्रमाण से अनेकार्थक होने से यहाँ पर वार्धुषिक अर्थ है अर्थात् साधु उसको कहते हैं जो कर्जा आदि देकर उसकी आमदनी से अपनी जीविका चलावे । इसलिये कुसीद करनेवाले की कन्या को साध्वी कहते हैं यह विग्रहारोप भी श्रीजानकीजी को सूचित करता है। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और चौथा कुसीद, इस भागवत के बचन से वृद्धि अर्थात् लेन-देन आदि व्यापारों से जीविका वैश्यों की बताई गई है, इसलिये (उपयुक्त साध्वी शब्द की व्याख्या करने से) श्रीरामायण में भी श्रीसीताजी को गोपी होना सिद्ध किया गया । श्रीवाल्मीकी रामायण के अयोध्याकाण्ड में अनसूया जी के प्रति श्रीसीताजी के वाक्य से भी श्रीसीताजी की पहली उत्पत्ति धर्म नामक जनकजी के घर में हुई ऐसा जाना जाता है, तथाहि 'नृपति की कन्या मैं पृथिवी का भेदन करके उत्पन्न हुई', 'या जाता ओषधियो देवेभ्यः,

इत्यादि मंत्रोक्त प्रकार से औषधियों की मुष्टि विकरण करते हुए नरपति श्रीमिथिलेशजी धूलि से लपेटी हुई मुझको देखकर अत्यन्त विस्मित हुए । कोई सन्तान न रहने की वजह से स्नेह से मुझको स्वयं गोदी में बैठाकर यह मेरी कन्या है ऐसा कहकर मुझ पर स्नेह किया, उसके बाद अन्तरिक्ष से आकाशवाणी हुई कि "हे राजन्, यह बात ऐसी ही है, यह धर्म से तुम्हारी ही कन्या है', तत्र मिथिलाधिप, धर्मात्मा मेरे पिताजी बड़े प्रसन्न हुए। मुझ को प्राप्त कर महाराज विपुल समृद्धि को प्राप्त हुए और पुण्य कर्म करने वाले श्रीपिताजी ने अपनी प्रिय ज्येष्ठादेवी के लिये मुझको दे दिया। उन्होंने भी मातृ-स्नेह, स्निग्ध-भाव से हमारा सम्भावन (पालन-पोषण) किया"। यहाँ पर "राजा की कन्या मैं पृथ्वी का भेदन करके प्रगट हुई"। इस कथन से राजकन्या होना पूर्व से ही सिद्ध है यह सूचित किया, यथाश्रुत अर्थ करने पर "हमारी यह कन्या है" यह उत्तर में बाधित हो जायगा । और जो आकाशवाणी ने कहा कि 'एवमेतन्नरपते, इसका अर्थ यह है कि जो यह कन्या है सो प्रथम ही धर्म से अर्थात् धर्मनामक आपके रूप से आप की पुत्री है। यह सत्य ही है आप धर्मात्मा हैं अर्थात् धर्मनाम का आत्मा है। अतएव 'मैं धर्मी की सुता होऊँ, इस श्रीसीता जी के वचन में भी धर्म यह नाम जिसका है उसको धर्मी कहते हैं। उसकी मैं पुत्री हूँ, यह अर्थ समझना चाहिये, अयोनिजा हूँ अर्थात् अ = माधव श्रीवासुदेव ही हैं योनि = कारण जिसके उसको अयोनि कहा अर्थात् अयोनि = माधवी से आप हुईं इसलिये अयोनिजा हैं। इस अर्थ से सिद्धेश्वरतंत्रोक्त श्रीसीता सहस्त्र नाम में 'माधव्यानन्ददा, माधवी माता को आनन्द देने वाली यह जानकी जी का नाम आया है, अतः श्रीजानकीजी की माता का नाम माधवी भी है, माधव की यह माधवी कही जाती हैं, इस व्युत्पत्ति से सूचित किया ।

किञ्च सिद्धेश्वरतन्त्रस्य सीतासहस्रनाम्नि 'विष्णुपत्नी, विष्णुभवा, विष्णुजायेति श्लोके विष्णुपत्नीत्वमुक्त्वा विष्णुभवेत्युक्तं तच्च जनकस्य विष्ण्वंशत्वाद्विष्णुशब्दो जनकवाचकः, अतस्तद्भवत्वं सम्भवति अन्यथा वाध एव स्यात् । अतएवोत्तरकाण्डे सीताशपथे 'तथा मे माधवीदेवी, (वा० उ० स० ९७ श्लो०१४) इति श्लोके टीकाकारैर्माधवपत्नी व्याख्याता सा जनकपत्नी ज्ञेया । अतः श्रीरामैः 'कामं श्वश्रुस्त्वमेवासी, (वा० उ० स० ९८ श्लो ०७) ति तस्याः श्वश्रूत्वं स्पष्टमेवोक्तम् यथा जनकगेहे नरकासुरपोषार्थ पृथ्वीं मानुषीरूपेण धात्रीभूत्वा कात्यायनी नाम्न्रा स्थितेति कालिकापुराण उक्तं, तथा व्रजेऽपि मानुषीरूपेण माधवीनाम्ना मातृरूपेण स्थितेतिज्ञेयम् । अतएव कालिका पुराणे 'तस्य तद्‌वुवुधे देवी नृपस्याथ वसुंधरा । महिषी विस्मयं चक्रे तस्मिन् कालेतुभूभृतः, इत्यत्र वसुंधराया महिषीत्वं स्पष्टमेवोक्तम्

किंच और भी सिद्धेश्वरतंत्र के श्रीसीतासहस्त्र नाम में 'विष्णुपत्नी विष्णुभवा, विष्णजाया, इत्यादि श्लोक में विष्णुपत्नी कहकर विष्णुभवा कहा गया है। वहाँ श्रीजनक जी विष्णु के अंश होने से विष्णु शब्द से जनक का बोध होता है। अतः उनसे होना जानकी जी का सम्भव है, अन्यथा वाध ही हो जायगा। अतएव उत्तरकाण्ड में श्रीसीता जी के शपथ के समय 'तथा मैं माधवी देवी, इस श्लोक में टीकाकारों ने माधवी शब्द का अर्थ माधव की पत्नी किया है, वह जनकपत्नी ही समझना

चाहिये । इसीलिये श्रीरामजी ने भी 'कामं श्वश्रूः' इस श्लोक में उसको अपनी श्वश्रू सास बतलायी है। जैसे श्री जनकजी के घर में नरकासुर के पोषण करने के लिये पृथिवी मानुषी रूप से धात्री

टिप्पणी -- नरकासुर पृथ्वी का पुत्र था । उसको रामजी मारे नहीं इसलिये पृथ्वी रूप बदल के श्रीरामजी की पत्नी श्रीजानकी जी की सेवा करने को प्रथम से ही धात्री रूप से रहती थी । होकर कात्यायनी नाम से स्थित रही। यह बात कालिका पुराण में लिखी है, उसी प्रकार से व्रज में भी मानुषी रूप से माधवी संज्ञा को धारण कर माता रूप से स्थित रहीं यह जानना चाहिये । अतएव कालिका पुराण में 'महिषो वसुंधरा देवी ने राजा के विचारों को जाना और परम विस्मय किया, यहाँ वसुंधरा (पृथ्वी) को महिषी होना स्पष्टतया कहा गया है।

यद्वा सीतामातुरयोनिरिति नामान्तरं ज्ञेयम् । अतएव सर्वत्रायोनिजा, इत्युक्तिः । एतेषु नामसु मुख्यं माधवीत्येव नाम, यतः श्रीरामायणे भूविवरप्रवेशसमये श्रीसीता प्रार्थनायां 'यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये । तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति । मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये । तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति । तथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च । तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति (वा० उ० सं० ९७ श्लो० १४-१६) इति वाक्यत्रयेऽपि माधवी नामिका मातरं प्रति विवरयाचनं कृतम् । तत्र श्लोकार्थः यथाहं राघवादन्यमिति--यथा पूर्वं बाललीला समाप्तौ विवरदानं माधव्या कृतं, येन शीघ्रमेव श्रीरामेण सह मेलनं जातं एवमिदानीमपि यथा राघवादन्यन्मच्चिन्तितं न भवेत् तथैव माधवी देवी मन्माता विवरं ददात्विति । मनसा कर्मणेति-मनसा कर्मणा वाचा यथा रामस्यार्चनमहं करोमि, तथैव श्रीरामार्चनाविरोधेन माधवी देवी विवरं दातुं योग्या भवति । अन्यथा सामान्यविवरदाने मनसा कर्मणा वाचा श्रीरामार्चनं न भवेत् । अतो यथा श्रीरामेण सह शीघ्र मेलनं, मनसा वाचा कर्मणा समर्चनञ्च भवेत् तथैव विवरं दातुं योग्येति । तथैतत्सत्यमिति - यथाहं रामादुत्कृष्टं न वेद्मि न प्राप्नोमीति सत्यमुक्तं भवेत्तथैव माधवी देवी विवरं दातुं योग्येति ।

यद्वा श्री सीताजी की माता का 'अयोनि' यह नामान्तर है अतएव सर्वत्र 'अयोनिजा' यह सीता का नाम भी सङ्गत होता है। उपर्युक्त सभी नामों में माधवी नाम ही प्रधान और मुख्य है क्योंकि श्रीरामायण में भू विवरप्रवेश के समय श्रीसीताजी ने 'यथाहं राघवादन्यं' इत्यादि उपरितन कथित तीन श्लोकों से माधवी नाम वाली माता से विवर की याचना की है, उन श्लोकों का अर्थ यह है कि 'यथाहं राघवादन्यमिति-जैसे पहले बाल लीला की समाप्ति में माधवी माता ने मुझको विवर दान किया था, जिस से शीघ्र ही श्री रामजी के साथ मेरा संयोग हो गया, उसी प्रकार इस समय में भी जैसे श्री रामजी से अन्य कोई भी मेरे मन में चिन्तित न होवें तो उसी प्रकार से माधवी देवी मेरी माता मुझको विवर देवें । मनसा कर्मणेति मन, वचन, कर्म से जैसे मैं श्रीरामजी का

अर्चन करती हूँ उसी प्रकार करती रहूँ, उस श्रीरामार्चन में कोई विरोध न हो, उस प्रकार से माधवी देवी विवर देने के योग्य होवें, अन्यथा सामान्य विवर के देने से मन, वचन, कर्म से रामार्चन नहीं हो सकेगा । अतः, जिस प्रकार श्रीरामजी से शीघ्र संयोग, और मन, वचन, कर्म से समर्चन होवे उसी प्रकार से विवर मुझको देने योग्या हैं। यथैतत्सत्यमिति - जैसे मैं श्रीरामजी से अन्य को उत्कृष्ट नहीं जानती हूँ, न प्राप्त ही करती हूँ, यह सत्य ही कहा गया है उसी प्रकार माधवी देवी मुझको विवर दे देवें, इति ।

यद्वा यथाहं राघवादन्यमिति - यथेति पदस्य माधवीत्यनेन सम्बन्धः यथा मे माधवी मन्माता पूर्वं मच्चिन्तनानुसारेण व्रजीयमानससरसि विवरदानद्वारा श्रीरामं शीघ्र प्रापितवती, तथा पृथिवी देवी विवरदानद्वारा श्रीरामं प्रापयत्विति कौशलखण्डेऽपि वने प्रादुर्भावसूचनं 'वने सीते' ति । गोपीत्वे प्रमाणं तु जानकी सहस्रनाम्नि "नन्दिनीकुल मध्यमे" ति । कोसलखण्डे "सीता गोपीमहेन्दिरे" ति श्रीसीताया नाम इन्दिरा लक्ष्मी इति । एतस्या जन्म श्रीरामनाम करणात्पूर्वमेव जातम् । अतएव पाद्मे श्रीरामनाम निरुक्तौ "श्रियः कमलवासिन्या रमणोऽयम्, इत्युक्तम् श्रीरामः कमलवासिन्याः श्रियो रमणः, न तु हलमुखोत्पन्नायाः, तस्यास्तु जन्मानन्तरं भावि रामायणे रामस्य दक्षिणे पार्श्वे पद्मा श्रीः समुपाश्रिता (वा. उ. स. १०९-६) इत्यनेन कमलवासिन्याः "श्रियः" पद्मा इति नामोक्तम्, यतो व्रजीयमानस सरस्सञ्जातपद्मातिरिक्तास्ति ।"

यद्वा "यथाहं" यहाँ पर यथा पद का माधवी पद के साथ सम्बन्ध है तथा च जैसे मेरी माधवी माता ने पहले हमारे चिन्तन के अनुसार व्रजीय मानस सरोवर में विवरदान के द्वारा श्री रामजी से शीघ्र मिलान करा दिया, उसी प्रकार हे पृथ्वी देवि ! इस समय भी विवरदान द्वारा श्री रामजी को शीघ्र प्राप्त करा देवें इति । कौशलखण्ड में भी वन में प्रादुर्भाव हुआ, इसका सूचन 'वने सीता' इस पद से किया है। जानकीजी का गोपी होने में प्रमाण तो जानकी सहस्र नाम में 'नन्दिनी कुलमध्यमा, यह जो कहा गया है वही प्रमाण है। कौशलखण्ड में सीता, गोपी, महेन्दिरा, लक्ष्मीः, आदि श्रीसीताजी के नाम कहे गये हैं। इनका जन्म श्रीरामजी के नामकरण के प्रथम ही हुआ । अतएव पद्म पुराण में श्री राम-नाम की निरुक्ति में 'कमलवासिनी श्री के यह रमणक अर्थात रमण कराने वाले हैं। अतः, राम हैं ऐसा कहा है, अर्थात् श्रीरामजी कमलवासिनी श्री जी के, रमण कराने वाले हैं, न कि हलमुख से उत्पन्न हुई श्री जी के, क्योंकि हलमुखोत्पन्न श्री जी के तो जन्म के बाद रामायण में 'श्रीरामजी के दक्षिण भाग में पद्मा श्री उपस्थित हुईं, इस कथन से कमलवासिनी श्री जी का पद्मानाम कहा गया है, क्योंकि व्रजीय मानस सरोवर से जायमान पद्मा से वह अतिरिक्ता है।

श्रीसनत्कुमारीय श्रीरामसहस्रनाम्नि 'पद्मापतिरित्युक्तम् । अध्यात्मरामायणे 'रामस्थ सव्यं सितपद्महस्ता पद्मा गता, (अ. उ. ९।३९) इत्युक्तम् । श्रीभागवतेऽपि 'मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः (भा. द. ३ अ. ५० श्लो०) इति सेतु दृष्टान्ते श्रीपतित्वं श्रीरामस्योक्तम्

। व्रजे च श्रीरामस्य दश वर्ष पर्यन्तं गुप्ततयाऽवस्थानं, यतः श्रीरामायणे कौशल्यावाक्यं - दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव पुत्रक । आसितानि प्रकांक्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम्" (वा. अ. सं. २० श्लो० ४५) इत्यत्र जातस्य प्रादुर्भूतस्येत्यर्थः, प्रादुर्भावोत्तरं दासप्तावर्षाणि जातानि तेन व्रजे पूर्वं गुप्ततयाऽवस्थानं दश वर्ष पर्यन्तमायाति । तावत्पर्यन्तं यौवराज्यसम्भावनाया अभावदुःखाभावस्तदुत्तरं तस्या आशाया उत्पन्नत्वेन तदपूर्त्या दुःखोत्पत्तिः ।

सनत्कुमारीय श्रीरामसहस्त्रनाम में 'पद्मापतिः ऐसा नाम श्री रामजी का आता है और अध्यात्म रामायण में 'श्री रामजी के दक्षिण भाग में सित कमल को हाथ में लिये पद्मा प्राप्त हुई यह कहा है। श्री भागवत में भी 'श्रीपति के सिन्धु की तरह यमुना जी ने वसुदेव जी को मार्ग दिया, यहाँ सेतु दृष्टान्त में श्रीरामजी को श्रीपति कहा गया है। व्रज में श्री रामजी दश वर्ष तक गुप्त रहें, क्योंकि श्री रामायण में श्री कौशल्या जी का वाक्य है, कि - हे पुत्र ! आपको आविर्भाव हुए दश और सात सतरह वर्ष बीत गये, मैं अभी तक दुःख के परिक्षय की आकांक्षा करती रही, यहाँ पर जात का अर्थ प्रादुर्भाव है, अर्थात् प्रादुर्भावोत्तर सत्रह वर्ष बीत गये । अतः, व्रज में प्रथम गुप्ततया दश वर्ष तक रहे यह आता है, उतने दिनों तक यौवराज्य की सम्भावना ही नहीं थी, उस सम्भावना के अभाव से दुःख भी नहीं था, और उसके बाद अर्थात् जब आपका अयोध्या में प्रादुर्भाव हो गया तब से उस आशा की उत्पत्ति हो गई और फिर उस आशा की पूर्त्ति न होने से और भी दुःख की उत्पत्ति हुई ।

किञ्च 'तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्' (वा. बा. स. १८ श्लो० २४) इत्यत्र जन्मशब्देन प्रादुर्भावः, जनीप्रादुर्भावे इति धातोः । तथा च जन्मक्रिया आदिर्येषां तानि जन्मक्रियादीनि, इति विग्रहः जन्मक्रिया = नाम प्राकट्यं तदादिर्येषामेतादृशा यज्ञोपवीतादि क्रिया अकारयत् । अन्यथा यदि जन्म पदेनोत्पत्तिर्गृह्यते तदा नामकरणस्य पूर्वमुक्तत्वाज्जातकर्मणस्तुदुत्तरमसम्भवादसंगततापत्तिः स्यात् । यज्ञोपवीतात् प्राक्तनीया लीला अयोध्यास्थित्यभावान्नोक्ता । अध्यात्मरामायणे 'अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णका ननु सर्वतः । दृष्ट्वा दशरथो राजा कौशल्या मुमुदे तदा । भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहि निवासकृत् । आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया । आनयेति च कौशल्यामाह सा सस्मिता सुतम् । धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम् । प्रहसन् स्वयमायातिकर्द्दमाङ्कितपाणिना । किञ्चिद्‌गृहीत्वा कवलं पुनरेव पलायते (अ. वा. ३ स. ४६-५०) इत्यादिना या बाललीला उक्तास्ता राजलीलायां बालस्य कर्दमलेपादिकौशल्याधावनं स्वयमेव बालकानयनमित्यादिरूपा न सम्भवन्ति, यतः श्रीभागवते कृतद्‌युतिवाक्ये 'वत्समानय मे भद्रे इति धात्रीमचोदयत्' इत्यादिना बालकानयने धात्री प्रेषणमुक्तं, न स्वयमेव गतेत्युक्तम् । अतो गोपलीलायामेवेदं सम्भवति । तेषां कौशल्यादशरथेति नाम्ना निर्देशस्तु सदाशिवस्य दिव्यदृष्ट्या ज्ञेयः । व्रजे

च यथा श्रीकृष्णेन पूतनानिहता, एवं श्रीरामेणाऽपि रेवती नाम्नी राक्षसी निहता, अतस्तत्र ता एव सिद्धाः इति ।

इतिश्री गालवाश्रमगाद्याधिपति मधुररसाचार्य जगद्गुरु श्री १००८ श्री मधुराचार्यकृते श्रीरामतत्त्वप्रकाशे नित्यसंयोगादि निरूपणं नामाष्टमोल्लासः ॥८॥

किंच (औरभी) 'उन सब के जन्मक्रियादिक सब कर्मों को करवाये' इस श्लोक में जन्मशब्द से प्रादुर्भाव ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि जन्म शब्द 'जनी प्रादुर्भाव' धातु से बनता है तब 'जन्मक्रियादीनि' इस शब्द का विग्रह इस प्रकार से होगा कि जन्म क्रिया जिनके आदि में हो उनका 'जन्मक्रियादीनि' कहते हैं। जन्मक्रिया का अर्थ है प्राकट्य अर्थात् प्रकट होना, वह जिसके आदि में है वे क्रियायें यज्ञोपवीत आदिक हुई उनको कराया । ऐसा अर्थ न करके यदि जन्म पद से उत्पत्ति को ही ग्रहण करेंगे तो नामकरण प्रथम ही कह चुके हैं, तब जातकर्म नामकर्म के बाद हो नहीं सकता, उसकी असंगति हो जायगी। अतः, श्रीरामायण में यज्ञोपवीत के पहले की लीलायें इसलिये नहीं कही गई कि अयोध्या में स्थिति नहीं थी । अध्यात्म रामायण में 'आँगन में घसकते हुये श्रीरामजी को देखकर राजा दशरथजी और कौशल्या जी मुदित हुई, भोजन करते हुऐ दशरथजी ने अति हार्दिक प्रेम से भोजन करने के लिये बुलाया, लेकिन श्रीरामजी खेल में आसक्त होने से नहीं आते हैं, तब महाराज ने कौशल्याजी से कहा कि इनको ले आइये, वे मन्दमुस्कुराती हुई श्रीरामजी को पकड़ने के लिये दौड़ी भी, लेकिन योगियों के मन की गतिवाले श्रीरामजी को स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं हुई, तब हँसते हुए धूली कादब आदि लगे हुए हाथ से आप स्वयं ही आजाते हैं, और कुछ थोड़ासा ग्रास ग्रहण कर भाग जाते हैं, इत्यादि श्लोकों के द्वारा जो लीलायें कही गई हैं वे राजलीला में बालक के पंक लगना, कौशल्या जी का दौड़ना, और स्वयं ही बालक को लाने को जाना, आदि सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि श्रीभागवत में कृतद्युति के वाक्य में 'हे भद्रे ! मेरे वत्स को लाओ, ऐसा कहकर धात्रो को प्रेरित किया' यहाँ पर बालक को लाने के लिये धात्री को भेजना कहा गया है न कि स्वयं ही गई हो । अतः, ये सब बातें गोपलीला में ही सम्भव हो सकतीं हैं, परन्तु गोपलीला में इनका जो कौशल्या दशरथ रूप से निर्देश किया है सो तो सदाशिवजी ने अपनी दिव्यदृष्टि से किया ऐसा जानना चाहिये । व्रज में जैसे श्रीकृष्ण जी ने पूतना का वध किया उसी प्रकार श्रीरामजी ने भी रेवती नामकी राक्षसी को मारा । अतः, यह सब लीलायें व्रज में ही सिद्ध हैं।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारकस्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणचरणाश्रितेन अखिलेश्वरदासेन कृतायां उद्योताभिधभाषाटीकायां अष्टमोल्लास ॥८॥

अथ बहुनायिकावत्वप्रतिपादको नवमोल्लासः

एवं श्रीरामस्य बहुनायिकाविलासित्वं वाल्मीकि रामायणादपि प्रसिद्धं दृश्यते, यथोत्तर काण्डे - 'उपानृत्यन्त राजानं नृत्यगीतविशारदाः। अप्सरोगणसंघाश्च किन्नरीपरिवारिताः। दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशंगताः । उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः । मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः । रमयामास धर्मात्मा नित्यं परमभूषिताः' (वा. उ. स. ४२ लो० २०- २२) तथाऽयोध्याकाण्डे - 'हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः । अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये' (वा. अ. स. ८ श्लो० १२) इत्यत्र स्नुषाशब्दस्योभयत्र सम्बन्धाद्बहुनायिका विलासित्वमस्ति । यदि स्नुषापदस्योभयत्राङ्गीकारो नक्रियते, अथापि स्नुषासमकोटित्वं सिद्ध्यति । परमपदोपादानादपि भोगपत्नीत्वमेव तदासीत्, यतः श्रीदशरथवाक्यम्- 'बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनाञ्चोपजीविनाम् । परिवादोपवादो वा राघवे नोपपद्यते' (वा. अ. स. १२ श्लो० २७) । 'यः सुखेषूयधानेषु शेते चन्दनरूषितः । सेव्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः' (वा. अ. स. ४२ श्लो० १५) मुनिवाक्यम् - 'हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा वुभौ । यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः' (वा. अ. स. ५ श्लो० १४)।

एवं श्रीरामजी का बहुत नायिकाओं के साथ विलास करना भी श्री वाल्मीकिरामायणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। यह देखने में आता है। जैसे उत्तरकाण्ड में - 'किन्नरियों से परिवारित नृत्यगीत में विशारद अप्सरागणों के समुदाय श्रीरामजी को उपानर्तन कराने लगे। जो दक्षिणा, रूपवती और पुष्पासव आदि करके मतवाली हो रही हैं, वे नृत्यगीतविशारद सर्व नायिकायें काकुत्स्थ श्रीरामजी के पास में नृत्य करने लगीं । मनोभिराम और परम भूषित उन रामाओं को रमण करानेवालों में श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामजी नित्य ही रमाने लगे।' तथा अयोध्याकाण्ड में मन्थरा वचन 'श्रीरामजी की परम स्त्रियाँ प्रसन्न होंगी और भरतजी के राज्यच्युत हो जाने पर आपकी स्नुषा (पतोहु) अप्रसन्न होगी' यहाँ पर स्नुषा शब्द का उभयत्र सम्बन्ध है। अतः, बहु नायिका विलासिता सिद्ध होती है। यदि स्नुषा पद का सम्बन्ध उभवत्र स्वीकार नहीं भी करें तो भी स्नुषाओं के समान कोटिवाली सिद्ध होती है, परम पद के उपादान से भी भोगपत्नियों की ही सिद्धि होती है, क्योंकि श्री दशरथजी का वाक्य है कि 'बहुत स्त्री सहस्रों और बहुत उपजीवियों के होते हुए भी श्री राघवजी में परिवाद और अपवाद नहीं होता है, जो चन्दन से अनुलिप्त होकर सुखमय तकियों पर सोते थे और महापूज्यतमा स्त्रियों से सेवित मेरे पुत्र थे। मुनि महर्षि वाल्मीकिजी का वचन है कि 'प्रसन्न नर-नारियों से युक्त श्रीरामजी का महल इस प्रकार सुशोभित हो रहा है जैसे खिले हुए कमलों से युक्त और मतवाले पक्षियों से अनुवादित सरोवर हो ।'

सुन्दरकाण्डे श्रीसीतावाक्यम् - पितुर्निर्देशं नियमेन कृत्वा वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च । स्त्रीभिश्च मन्ये विपुलेक्षणाभिस्त्वं रंस्यसेवीतभयः कृतार्थः' (वा. सु. स. २८ श्लो० १४)। मुनि

वाक्यञ्च- 'ऐश्वर्ये च विशालाक्षि पृथिव्यामपि दुर्लभम् । जयश्च सर्वरत्नानि प्रियाश्चापि वराङ्ग्नाः ॥ वरकाञ्चनकेयूरमुक्ताम्बर विभूषिणैः । भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा (वा. यु. स. २१ श्लो० ३) । अन्तःपुरगतानार्यो ननन्दुः सुसमाहिताः । अयोध्याकाण्डेच 'पृथिव्यासह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः । क्षिप्तं तिसृभिरेताभिस्सह रामोऽभिषेक्ष्यताम्, इति उत्तरकाण्डे च 'रामस्य सव्ये पार्श्वे तु सपद्मा श्रीरिवापरा । दक्षिणे च विशालाक्षी व्यवसायस्तथाग्रतः । (अत्र स्थान इदानींतन पाठः) 'रामस्य दक्षिणे पार्श्वे सपद्मा श्रीरुपाश्रिता । सव्येतु ह्री महादेवी व्यवसायस्तथाग्रतः (अथवा) सव्येपि च महीदेवी व्यवसायस्तथाग्रतः' (वा. उ. स. १०९ श्लो० ६) तथा लक्ष्मणवचनम् - 'न त्वां जहाति लक्ष्मीश्च कीर्तिश्च पुरुषोत्तम । धीश्च श्रीश्चापि काकुत्स्थ त्वयि नित्यं प्रतिष्ठिताः (वा. उ. सं. ३७ श्लो. ९)।

सुन्दरकाण्ड में श्रीसीताजी का वाक्य है कि 'हे श्रीरामजी ! आप तो अपने श्रीपिताजी के वचन को नियम से पालन करहे और व्रत को पूर्ण कर वन से लौट कर विपुलेक्षण नायिकाओं के साथ निर्भय और कृतार्थ होकर रमण करोगे। और मुनिवाक्य भी है कि 'ऐश्वर्य में हे विशालाक्षि ! पृथिवी मात्र में दुर्लभ है और जय, सर्वरत्न, तथा प्रिय श्रेष्ठ नायिकायें हैं। परम नारियों की श्रेष्ठ सुवर्णनिर्मित केयूर, मुक्ता, वस्त्र, विभूषणों से विभूषित भुजाओं से जो अनेकधा अभिमृष्ट होते हैं।' अन्तःपुर में स्थित नारि-समुदाय खूब प्रसन्न हुआ। पृथिवी, और श्रीजी के सहित श्रीवैदेहीजी इन तीनों के सहित श्रीरामजी शीघ्र ही अभिषिक्त होंगे। तथा उत्तरकाण्ड में भी श्री रामजी के सव्य पार्श्व में पद्मा के सहित अपरा श्रीजी और दक्षिण पार्श्व में विशालाक्षी उपस्थित हुईं तथा व्यवसाय आगे उपस्थित हुआ।' इस स्थान में इदानीं तन पाठ इस प्रकार का है कि 'श्री रामजी के दक्षिण भाग में पद्मा के सहित श्रीजी उपस्थित हुईं । सव्य भाग में ह्री देवी और व्यवसाय आगे उपस्थित हुआ अथवा वाम भाग में मही देवी और व्यवसाय आगे उपस्थित हुआ' तथा उत्तरकाण्ड में भी श्री लक्ष्मणजी का वचन है कि "हे पुरुषोत्तमजी ! आपको लक्ष्मी, कीर्ति नहीं त्यागती हैं और हे काकुत्स्थ 'धी' और 'श्री' जी आप में नित्य ही प्रतिष्ठित हैं इति।"

श्रीरामाश्वमेधे 'नर्तक्यस्तत्रनृत्यन्त्यः क्षोभयन्त्यः पतेर्मनः । जलयन्त्रैश्च सिञ्चन्त्यो ययुः श्रीरामसेविकाः, ॥ महाराजं विलिम्पन्त्यो हरिद्रा कुम्क्कुमादिभिः । परस्परं प्रलिम्पन्त्यो सुदं प्रापुर्महत्तरामिति' (प. पु. पा. ख. ६८ अ. १५- १६) तथाचोक्तं श्रीभागवतेपि - 'पुष्पकस्थोऽन्वितः स्त्रीभिः स्तूयमानश्च वन्दिभिः । विरेजे भगवान् राजन् ग्रहैश्चन्द्र इवोदितः' (भा. स्कं. ९ अ. १० इलो. ४५) अन्तेच 'रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतयाकिल' (भा. स्कं. ९ अ. ११ श्लो. ३५) अस्यार्थः 'स्वे आरामो रमणं यासां तास्ताश्चता धीराश्च तासामृषभः पतिः सीतया सह रेमे इति ।

श्री रामाश्वमेध में 'पति के मन को क्षोभित करती हुई नृत्य करनेवाली वहाँ नृत्य करती और जलयन्त्रों से जल छिड़कती हुईं श्रीरामसेविकायें चलीं। और हरिद्रा कुमकुम आदि से महाराज

श्रीरामजी को और परस्पर में भी अनुलेपन करती हुईं बड़े आनन्द को प्राप्त हुईं । तथा च भागवत में भी कहा है कि 'स्त्रियों से युक्त पुष्पक में बैठे हुए वन्दिगणों से स्तुत भगवान् श्रीरामजी, ग्रहों के सहित उदित चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए।' और अन्त में भी कहा है कि 'स्वारामधीरों के ऋषभ श्रीरामजी श्रीसीताजी के साथ रमण किये।' यहाँ 'स्वारामाधीराणामृषभः' इसका यह अर्थ है कि अपने में आराम = रमण जिनको हो उनको स्वाराम कहते हैं और स्वाराम ही जो धीरा हैं उनको स्वारामधीरा कहते हैं उनके ऋषभ अर्थात् पति श्रीरामजी श्रीसीताजी के साथ रमण किये ।

षट्त्रिंशत्साहस्रिक योगवाशिष्ठेपि 'लीलान्तः पुरनारीभिः कृतदोलाभिरङ्गणे । चिक्रीडे रतिलीलाभिर्धाराभिरिव चातकः । क्रीडद्वधूविलोकेषु वहत्कुसुमवायुषु । लतावलयगेहेषु भवत्यति विषादवान् । किमिमा दुःखदायिन्यः प्रस्फुरन्ति पुरोऽङ्गनाः । इति नृत्यविलासेषु कामिनीः परिनिन्दति । विलोलालकवल्लर्यो हेला चलितलोचनाः। नानन्दयन्ति तानार्यो भृंग्योवनतरुं यथा । नानाविभवरम्यासु स्त्रीषु मध्यगतासु च । पुरः स्थितमिवास्नेहो नाशमेवानुपश्यति । कान्तामध्य गतस्यापि मनोऽस्यमदनेषवः । न भेदयन्ति दुर्भेद्यं धारा इव महोपलाम्' इत्यादि । अत्र तीर्थयात्रातः पूर्वं यथा स्त्रियादिभिर्विहारादिकं कृत्वा स्थितः मेवमिदानीं न करोति, इति प्रकरणार्थेन पूर्वं बहुस्त्रीभिर्विहारादिकमायाति ।

योगवाशिष्ठ में भी लिखा है कि 'आँगन में जिन्होंने फूला लगा रक्खा है ऐसी अत्यन्त चंचल अन्तःपुर की नारियों के साथ अति लीलाओं को करके जैसे धाराओं से चातक क्रीड़ा करें वैसे ही क्रीड़ा किये। खेल करती हुई वधुवों को देखने से और कुसुमित वायु के चलने से तथा लतावलय के घरों में अति विषादवाले हो जाते हैं क्योंकि ये सब दुःख देनेवाली नायिकायें मेरे सामनें प्रस्फुटित होती हैं इस तरह नृत्यविलास एवं कामिनियों की निन्दा करते हैं। विलोल (चंचल) अलक और वल्लरीवाली, हेला से चलित नेत्रवाली वे नायिकायें इनको आनन्दित नहीं कर पातीं जैसे वन के वृक्ष को भृंगी आनन्दित न कर सकें । नानाप्रकार के विभवों से रमणीय स्त्रियों के मध्यगत होने पर भी स्नेहभाव के नाश को ही देखते हैं। यद्यपि यह श्रीरामजी कान्ताओं के मध्यगत भी हैं तो भी दुर्भेद्य इनके मन को मदन के वाण भेदन नहीं कर सकते हैं जैसे धारा बड़े भारी पत्थर को भेदन न कर सके । यहाँ पर तीर्थयात्रा से पहले जैसे स्त्री आदिकों के साथ विहारादि करके स्थित हुए थे वैसे इस समय नहीं करते हैं, इस प्रकरण के अर्थ से पहले बहुत नायिकाओं के साथ विहार किया था यह सिद्ध होता है।

टिप्पणी - योगवाशिष्ठ' यद्यपि श्रीवैष्णव सम्प्रदाय में प्रामाणिक नहीं माना जाता है परन्तु जो उसे प्रमाण मानते हैं उन्हें भी श्रीरामजी का बहुपत्नित्व उसी ग्रंथ से समझाने के उद्देश्य से प्रमाण दिया गया है। कालिका पुराणादि का भी यही अभिप्राय समझना चाहिये ।

रुद्रोक्त श्रीरामसहस्रनाम्नि 'पद्मेशः पद्मगेशश्च पद्मापः पद्मलोचनः । पद्मा पतिरिति ।' पाद्मोत्तरखण्डे 'रामस्य दक्षिणे पार्श्वे पद्महस्ता रमागता । तथैव धरणीदेवी वामपार्श्वमगात्तदा ।' तत्रैव परमव्योमधामनिरूपणे 'पार्श्वयोरवनीलीले समासीने शुभासने । अष्टदिक्षु दलाग्रेषु विमलाद्याश्च शक्त्यः । विमलोत्कर्षणी ज्ञानाक्रिया योगातथैव ब। प्रह्वी सत्या तथेशाना महिष्यः परमात्मनः । गृहीत्वाचामरान् दिव्यान् सुधाकर समप्रभान् । सर्वलक्षणसम्पन्ना मोदन्ते पतिमच्युतम्।' इत्यादिना स्पष्टमेव तासां महिषीत्वं श्रीरामस्य च पतित्वमुक्तम् अग्रेच 'रामस्य दक्षिणे पार्श्वे' इत्यादिना स्पष्टमेव बहुपत्नीत्वमुक्तम् । परमव्योमायोध्ययोर भेदः पूर्वार्द्धे प्रतिपादितश्च । पद्मपुराणे अयोध्यायाः परमव्योमसादृश्यमुक्तम् 'अयोध्यानाम नगरी सरयूतीरसंस्थिता' इत्यनेन ।

रुद्रोक्त श्रीरामसहस्त्रनाम में पद्मेश, पद्मगेश, पद्माप, पद्मलोचन, पद्मापति आदि श्रीरामजी के नाम हैं। पाद्मोत्तरखंड में 'श्रीरामजी के दक्षिण भाग में कमलहस्ता रमाजी प्राप्त हुईं और धरणी देवी जी वाम भाग में उपस्थित हुईं ।' उस ग्रन्थ में दूसरी जगह पर परम व्योमधाम के निरूपण में 'परम शुभ आसन पर दोनों भागों में धरणी देवी और लीला देवी बैठी हैं तथा आठों दिशाओं में दलों के अग्रभागों पर विमलादि शक्तियां विराजी हैं और विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना जी, क्रिया जी, योगा जी, प्रह्वी जी, सत्या जी, ईशाना जी आठ परमात्मा की महिषी हैं। सर्व लक्षण सम्पन्ना ये सब चन्द्रमा के सदृश प्रभावाले दिव्य चमरों को ग्रहण करके अच्युत पतिदेव श्रीरामजी को हर्षित करती हैं' इत्यादि वचनों से स्पष्ट रूप से उन सब का महिषी होना और श्रीरामजी का पति होना कहा गया है। आगे और भी 'रामस्य दक्षिणे पार्श्वे' इत्यादि से स्पष्टतया बहुपत्नीत्व कहा गया है। परमव्योम और श्रीअयोध्याजी में अभेद है यह पूर्वार्द्ध में प्रतिपादन हो गया है। तथा पद्मपुराण में श्रीअयोध्याजी का परमव्योम सदृश 'अयोध्या नाम की नगरी श्रीसरयूजी के किनारे पर स्थित है' इत्यादि वचनों से कहा है।

किंच 'यस्मादुत्पत्स्यते तस्यां भगवान् पुरुषोत्तमः । तस्मात्तु नगरी पुण्या सायोध्येति प्रकीर्तिता । नगरस्य परं धाम्नो नाम तस्याप्यभूच्छुभे । यत्रास्ते भगवान् विष्णुस्तदेव परमं पदम्, इत्यनेन नामाप्युक्तम्' । 'ताभिः परिवृतो राजा' इति श्रीरामस्यैवासाधारण बोधकराजेति पदेन परमव्योमनाथः श्रीरामो बोधितः । श्रीभागवते पञ्चमस्कन्धे मन्त्रे 'महाराजायेत्यनेन राजत्वमसाधारण्येन बोधितम्' । तत्रैव 'परेशस्य तनोरस्य दीपादुत्पन्नदीपवत्, इत्यनेन स्वरूपैक्यं बोधितम् । तस्मादेतत्प्रकरणे स्वरूपधामपरिकरादीनामैक्यमुक्तम् ।

किंच 'जिसलिये उसमें भगवान् पुरुषोत्तम उत्पन्न होंगे इसलिये वह नगरी पुण्या 'अयोध्या' नाम से कही जायगी। इसलिये परम धाम नगर का हे शुभे ! यही नाम हो गया, जहाँ पर भगवान श्रीविष्णु हैं वहीं परम पद हैं, इस वचन से नाम भी कहा गया है।' 'ताभिः परिवृतो राजा' यह श्रीरामजी का ही असाधारणबोधक राज पद से परमव्योम के नाथ श्रीरामजी ही बोधित हुये ।

क्योंकि भागवत के पंचम स्कन्ध में श्रीराम मंत्र में 'महाराजाय' इस पद से रामजी का राजत्व असाधारणतया बोधित किया गया है। उसी जगह 'परेश इस परमात्मा के शरीर से दीप से उत्पन्न दीप की तरह हैं'। इस वचन से स्वरूपैक्यता बोधित हुई । अतः, इस प्रकरण में स्वरूपधाम, परिकरों आदि की ऐक्यता कही ।

ननु 'एकपत्नीव्रतधरः, इति 'न रामः परदारांस्तु चक्षर्भ्यामपि पश्यति', इत्यनेन विरोधादनेकनारी विलासित्वं न घटते इति चेदुच्यते श्रीरामस्याश्वमेधे 'चतस्रः पत्न्यः कर्तव्याः' इति श्रुतिबलादनेकनारी करणं प्राप्तम् । एकपत्नीव्रतं तु स्मृत्याप्राप्तम् । अतः 'श्रुतिस्मृति विरोधेतु श्रुतिरेव गरीयसी, इत्यनेनानेकनारीकरणमावश्यकम् । एकपत्नीव्रतन्तु तदपेक्षया दुर्बलत्वाद्यथा कथञ्चिद्ज्ञेयम् ।

यदि कहो कि 'रामजी एक पत्नीव्रतधारी हैं, श्रीरामजी परदाराओं को चक्षुओं से देखते तक नहीं हैं' इत्यादि वाक्यों से विरोध होने के कारण अनेक नारी विलासिता रामजी में घट नहीं सकती है, तो इसका समाधान यह है कि श्री रामजी का अश्वमेध यज्ञ में 'चार पत्नी करना चाहिये' इस श्रुति के बल से अनेक नारी करना प्राप्त होता है और एक पत्नीव्रत तो स्मृति से प्राप्त होता है। अतः, 'श्रुति स्मृतियों में परस्पर विरोध होने पर श्रुति ही प्रबल है' इस सिद्धान्त से अनेक नारीकरण आवश्यक है, एक पत्नीव्रत तो स्मृति प्रतिपाद्य होने से श्रुति प्रतिपाद्य अनेक नारीकरण के सामने दुर्बल होने से यथा कथंचित् समन्वय कर लेना चाहिये ।

एक शब्दस्यानेकार्थकत्वं कोश उक्तम् -'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते' इति । अतः 'एकपत्नीव्रतधरः' इत्यादौ 'एका = मुख्या' इति व्याख्येयम् । अतएव तन्त्रवार्तिककारैरनेकनारीवत्त्वं श्रीरामस्याङ्गीकृतम् । किं च यथा नारदपंचरात्रीय लक्ष्मीसंहितायाम् 'चतुर्दिशं तु तस्यैव श्रीः कीर्तिश्च जया तथा । मयैव कृत्वा रूपाणि भुज्येहं तेन विष्णुना' इत्यादिना श्रियैवोक्तं 'मयैवश्रियादि रूपाणि कृत्वा विष्णुनाभोगः क्रियते । यथा मार्कण्डेयपुराणे च जैमिनिना पूर्वपक्षः कृते यन्महाभारते द्रौपद्याः पञ्च भर्तारः कथमिति । तस्योत्तरं 'एक एवेन्द्रः पञ्चधा जातः' तत्रेन्द्रस्य धर्मांशेन युधिष्ठिरो, बलांशेन भीमोऽर्जुनः, स्वयमेव रूपांशेन माद्रीसुताविति । तथा सीतैव तानि-तानि रूपाणि कृत्वा रामेण भोगं करोति । अतो न ताः परनार्यः अपि तु तत्पत्न्यः श्रीसीताया एवांशभूताः ।

एक शब्द की अनेकार्थकता कोश में 'एक शब्द अन्य, प्रधान, प्रथम, केवल, साधारण, समान, 'अल्प, और संख्या में प्रयुक्त होता है, इत्यादि प्रकार से प्रतिपादन की गई है।' अतः, 'एक पत्नीव्रतधरः' इत्यादि स्थलों पर एकया = मुख्यया पत्न्या व्रत, अर्थात् एक = मुख्य पत्नी से व्रत को धारण करनेवाले, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । अतएव तंत्रवार्तिककार ने श्रीरामजी को अनेकनारी वाला स्वीकार किया है। किंच जैसे नारदपंचरात्रीय लक्ष्मी संहिता में 'मैं ह्री, श्री, कीर्ति, जया आदि रूप करके उनके चारों तरफ होकर भगवान के साथ भोग करती हूँ' इत्यादि वचनों

से श्रीजी ने ही कहा कि मैं श्री आदि रूप करके विष्णु के साथ भोग करती हूँ । और जैसे मार्कण्डेयपुराण में जैमिनि ने पूर्वपक्ष किया है कि महाभारत में द्रौपदी के पाँच पति कैसे हैं ? उसका उत्तर किया है कि एक ही इन्द्र पाँच रूप से हो गया, वहाँ इन्द्र के धर्मांश से युधिष्ठिर, बलांश से भीम, स्वयं रूप से अर्जुन, और रूपांश से नकुल-सहदेव हुए, उसी प्रकार से श्रीसीताजी ही उन-उन रूपों को धारण करके श्रीरामजी के साथ भोग करती हैं। अतः, वे परकीया नहीं हैं किन्तु वे श्रीरामजी की पत्नियाँ हैं और श्रीसीताजी की अंश भूता हैं।

किं च यथा देवयानीविवाहेनैव शर्मिष्ठा विवाहो जात इति महाभारत उक्तम्, एवं श्रीजानकी विवाहेनैव तत्सखीनामपि विवाहो जात एवास्ति, अन्यासां दासीनान्तु 'गम्याः स्युरानुलोम्येनेति' धर्मशास्त्रात्स्वीयात्वमेवातो न परदारत्वं तासामस्त्यतो न काप्यनुपपत्तिः । किं च यथा श्रीकृष्णस्यानेकनारीभोक्तृत्वेऽपि गोपालतापिन्यादौब्रह्मचारित्वमुक्तं, तथा श्रीरामस्याप्यनेक नारी विलासित्वेऽप्येकनारीव्रतधरत्वं नानुपपन्नं' भगवतो विरुद्ध धर्माश्रयत्वेन सर्वधर्माणां सम्भवात् । तथा च बहुनायिका विलासित्व श्रीरामरूपेणापि सिद्धम् ।

जैसे देवयानी के विवाह से ही शर्मिष्ठा का भी विवाह हो गया यह महाभारत में कहा है; इसी प्रकार से श्रीजानकीजी के विवाह से ही उनकी सखियों का भी विवाह हो ही गया और अन्य दासियों की तो 'गम्याः स्युः' इत्यादि धर्म-शास्त्र के बल से स्वकीयता ही है, अतः उनका भी परदारात्व नहीं है इसलिये काई भी अनुपपत्ति नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण को अनेक नारी भोक्तृत्व होने पर भी गोपाल तापिनी आदि ग्रन्थों में ब्रह्मचारी ही कहे गये हैं उसी प्रकार श्रीरामजी का भी अनेक नारी विलासिता होने पर भी एक नारीव्रतधरत्व की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि भगवान् विरुद्ध धर्मों के आश्रय होते हैं। अतः उनमें सब धर्मों का होना सम्भव है, इसलिये बहुनायिका विलासिता श्रीराम-रूप से भी सिद्ध होती है।

रासलीला सूचनातु श्रीवाल्मीकीय रामायणोत्तरकाण्डेस्ति, तथाहि 'उपानृत्यॅश्च राजानं नृत्यगीत विशारदाः। अप्सरोगणसंघाश्च किन्नरीपरिवारिताः । दक्षिणा रूपवल्यश्च स्त्रियः पानवशं गताः । उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः । मनोभिरामा रामास्ता रामो रमयतां वरः । सं० १) इत्यादि विलासः सूचितस्तेन रासः सिद्ध्यति । रामस्तवराजे 'गोविन्दं गोपतिं विष्णुं गोपीजन मनोहरम् । गोपालं गोपरीवारं गोपकन्या समावृतम् । गो गोपिकासमाकीर्णं वेणुवादनतत्परम् । (३२-३५)। कोशलखण्डे - 'सस्मार स वरं तासां स्वेन दत्तमनुत्तमम् । यतस्तास्तस्य लोकस्य सख्यो भूलीलयोः श्रियः । रमयामास सीतेशस्ता सर्वा जगदीश्वरः । गानेन वेणुना साकं सर्वचेतोपहारिणा' इत्यादि । 'एकान्ते सरयूतीरे कल्पपादपकानने । गोपीभिश्च रमाकान्तस्ततो वै राममण्डले । ब्रह्मणो मध्यरात्रेऽसौ प्रीतिसम्पत्तिहेतवे । गुहासु तासु तत्रैव भगवानन्तरधीयत' इत्यादि । अग्रेच

'श्रीमान् नटवरवपुः कोटिकन्दर्पसुन्दरः । रासलीलां पुनश्चक्रे ताभिरन्तरगो विभुः, इत्यादि ।

किष्किन्धाकाण्ड के प्रथम सर्ग में 'हे लक्ष्मणजी ! देखिये कि पर्वत के शिखरों पर नृत्य करते हुए अपने पति के पीछे काम से पीड़ित यह मयूरी भी नृत्य करती है और अपने मनोहर पंखों को फैलाकर उपहास सा करता हुआ मयूर भी उसी अपनी मयूरी के पीछे अनुधावन करता है। निश्चय करके इस मयूर की प्रिया का राक्षस ने हरण नहीं किया है, इसीलिये रमणीक वनों में अपनी कान्ता के साथ नृत्य करता है। यदि विशालाक्षी जानकी का राक्षस ने हरण न किया होता तो वे भी इसी प्रकार मदन से जात-सम्भ्रम होकर मेरा भी अनुवर्तन करतीं । इत्यादि वाक्यों से विलास सूचित होता है, अतः रास सिद्ध होता है। रामस्तवराज में 'गोविन्द, गोपति, विष्णु, गोपीजन मनोहर, गोपाल, गोपरिवारवाले, गोपकन्याओं से समावृत, गोपिकाओं से घिरे और वेणुवादन में तत्पर श्रीराम जी को मैं भजता हूँ।' कोशलखण्ड में 'उनके लिये अपने दिये हुए अनुत्तम वरदान को स्मरण किये, क्योंकि वे सब उस लोक की श्री, भू, लीला देवी की सखियाँ हैं। जगदीश सीतेश श्रीरामजी ने उन सब को वेणु के साथ सब के चित्त को अपहरण करने वाले गान से रमाया । 'एकान्त में सरयूजी के किनारे कल्पवृक्षों के बगीचे में (रचित) रासमण्डल में 'रमाकान्त श्रीराम जी ने गोपीगणों के साथ रास किया और यह रास ब्रह्माजी की मध्यरात्रि में प्रीति सम्पत्ति के लिये हुआ, पुनः उन्हीं गुफाओं में भगवान अन्तर्ध्यान हो गये' इत्यादि । आगे फिर भी वर्णन आता है कि 'कोटिकन्दर्पसुन्दर नटवर वेषधारी श्रीमान् श्रीरामजी ने फिर भी उनके मध्य में स्थित होकर रासलीलायें की ।'

अयं विहारो व्रज एव गोवर्द्धनोद्धरणादिलीलोत्तरमस्ति, यतोऽत्रैव 'स्वप्रियाः पुनरेवाहभगवान् रघुपुङ्गवः ।द्वापरे पुनरेवाहमिदानोमिव कौतुकी । युष्मान संरमयिष्यामि वृन्दाकुञ्जे मनोरमाः। इत्यत्रेदानीमिवेति दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिके श्रीकृष्णस्य भागवतादिषु यावद्वयस्कस्य रासः प्रसिद्धस्तावद्वयस्कस्य श्रीरामस्यापि ज्ञेयः । अन्यथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयौर्वैषम्यं स्यात् । ततो व्रजलीलोत्तरमयोध्यायामागमनं, तत्र प्राकट्येनावस्थितिः । तत्र प्रमाणं तु 'दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तवपुत्रक । असितानि प्रकांक्षंत्या स ममदुःख परिक्षयमिति' (वा० अ० स० २० श्लो० ४५) कौशल्योक्तिः । 'तेषांजन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्' (वा० बा० सं० १८ श्लो० २४) इति जन्म पदञ्च पूर्वमेवोक्तम् । ततो विश्वामित्रागमनं श्रीरामस्य यज्ञरक्षार्थं नयनं, मार्गे ताटकावधस्तस्या मोक्षप्राप्तिरपि, तत्र प्रमाणं-हतारिमुक्तिदायकत्वे पूर्वमुक्तमेव । ततो यज्ञरक्षा, ततो मिथिलागमनं तत्र धनुर्भङ्गस्तत्र षड्-वार्षिक्या जानक्या सह श्रीरामस्य पञ्चदशे वर्षे फाल्गुन्यां विवाहः, तिथिश्चात्र द्वितीया ज्ञेया, 'उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फाल्गुनीभ्यां मनीषिणः । वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगोयत्र प्रजापतिः । (वा. बा. स. ७२ श्लो. १३) इति बालकाण्डीय वचनात् ।

यह विहार व्रज में ही गोवर्धनोद्धरण आदि लीलाओं के बाद का है क्योंकि उसी स्थल पर 'रघुपुङ्गव भगवान् श्रीरामजी ने पुनः अपनी प्रियाओं से कहा कि द्वापर में फिर भी कौतुकी मैं आपसब को इसी तरह वृन्दाकुंज में रमण कराऊँगा' यहाँ पर 'इदानीमिव' इस दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक में जितनी अवस्था वाले श्रीकृष्ण जी का भागवतादिकों में रास प्रसिद्ध है उतनी ही अवस्था वाले श्रीरामजी का भी जानना चाहिये । यदि ऐसा न मानेंगे तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता हो जायगी । अतः व्रजीय लीला के बाद अयोध्या में आना और प्रगट रूप से रहना इस में प्रमाण तो 'दस सप्त च वर्षाणि' इत्यादि कौशल्याजी का वाक्य ही है 'तेषां जन्मक्रियादीनि' इस श्लोक में आये हुए जन्म पद का अर्थ पहले कह चुके हैं। उसके बाद विश्वामित्र जी का आना, श्रीरामजी को यज्ञ रक्षार्थ ले जाना, रास्ते में ताड़का को मारना और उसको मोक्ष मिलना इसमें भी प्रमाण 'हतारिमुक्त दायक' प्रकरण में कह चुके हैं। उसके बाद यज्ञ की रक्षा करना, फिर मिथिला को जाना और वहाँ धनुष को तोड़ना, तब षट् वर्ष की जानकी के साथ पंद्रह वर्ष वाले श्रीरामजी का उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में विवाह होना । यहाँ द्वितीया तिथि समझना क्योंकि 'उत्तरे दिवसे' इत्यादि बालकाण्ड का वचन प्रमाण है।

भगशब्देन भगदैवत्या पूर्वाफाल्गुनी, प्रजापतिशब्देन प्रजापतिदैवत्याद्वितीया तिथिः तथाच फाल्गुन कृष्ण द्वितीयायां विवाह इति । एवंच श्रीनारायणमुनिकृत टीकायां 'परेद्युरुत्तरा फाल्गुनी योगे द्वितीयायां विवाहो भवितेति । ततोऽयोध्यायामागमनम्, तत्र यौवराज्यमन्त्रणं, ततो विवासनं, चतुर्दशवर्षपर्यन्तं वनवासस्तत्र रावणकृतसीताहरणम् । रावणेन या हृता सापि साक्षात् सीता न भवति किन्तु मायिक्येव । रामतापिन्यामपिमायिकसीतास्वरूपभूतसीतयोर्भेदः स्पष्ट एवोक्तोऽस्ति । तथाच तत्रोक्तश्रुतेरर्थः - देवीं स्वरूपभूतां संदृश्य = दृष्ट्वा रावणहरणव्याजेन सीतामीक्षितुं रामो लक्ष्मणश्चोभौ तदा भूमौ विचेरतुः, इति । यदि रावणेन स्वरूपभूतैव हृता स्यात् तर्हि देवीं दृष्ट्वेत्युक्तिस्तद्व्याजेनेत्युक्तिश्च बाधिता स्यात् ।

भगशब्द से भगनामक सूर्य जिसके देवता हैं वह पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र हुआ और प्रजापति शब्द से प्रजापति देवता वाली द्वितीया तिथि हुई तब फाल्गुन कृष्ण द्वितीया को विवाह हुआ यह सिद्ध हुआ । अतएव श्रीनारायणमुनिकृत टीका में भी दूसरे दिन उत्तरा फाल्गुनी योग और द्वितीया तिथि में विवाह होगा ऐसी व्याख्या की है। पुनः अयोध्या में आना, अयोध्या में यौवराज्य के लिये विचार करना बाद को, वनवास की आज्ञा, चतुर्दश वर्ष तक वन में वास करना, वहाँ रावणकृत सीता हरण होना। रावण से सीताजी हरी गईं वे साक्षात् सीता नहीं थी किन्तु माया की सीता रहीं। श्रीरामतापिनी उपनिषद् में मायिकसीता और साक्षात् सीताजी का भेद स्पष्टतया प्रतिपादन किया है, और 'तद्व्याजेनेक्षितु' सीतां रामो लक्ष्मण एव च । विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं सन्दृश्य' (रा०ता० पूर्वार्ध ३६) इस श्रुति का अर्थ यह है कि 'साक्षात् देवी को देखकर रावण के हरण के व्याज से श्रीसीताजी को देखने के लिये श्रीरामलक्ष्मण दोनों भाई पृथ्वी पर विचरे' । यदि साक्षात् श्रीसीताजी

का रावण ने हरण किया होता तो 'देवीं दृष्ट्वा' यह कहना और 'उसके व्याज से' यह कहना बाधित हो जाता ।

अतएवोक्तं सन्दर्भ सामान्यपतिव्रतामात्रस्यापि परात् परिभवाभावः सर्वशास्त्रप्रसिद्धः, किमुत साक्षात्स्वरूपशक्तिसारभूताया विरुद्धभाववद्भिर्दृष्टुशक्यायास्तस्याः । अतएव कूर्म पुराणे द्वात्रिंशाध्यायस्यान्ते 'पतिव्रतामात्रस्य परात्परिभवो न सम्भवति' कैमुत्येन श्रीसीतादेवी ह्युदाहृता 'पतिव्रता धर्मरता रुद्राण्येव न संशयः । नास्याः पराभवं कर्तुं शक्नोतीह जनः क्वचित् । यथा रामस्य सुभगा सीता त्रैलोक्य विश्रुता । पत्नी दाशरथेर्देवी विजिग्ये राक्षसेश्वरः । रामस्य भार्या विमलां रावणो राक्षसेश्वरः । सीतां विशाल नयनां चकमे कालचोदितः । गृहित्वा मायया वेषं चरन्तींविजने वने । समाहर्तुं मतिं चक्रे तापसः किल भाविनीम् । विज्ञाय साच तद्भावं स्मृत्वा दाशरथिं पतिम् । जगाम शरणं वह्निमावसथ्यं शुचिस्मिता । उपतस्थे महायोगं सर्वपाप विनाशनम् । कृताञ्जली रामपत्नी साक्षात्पतिमिवाच्युतम् । नमस्यामि महायोगं कृतान्तं गहनं पदम् । दाहकं सर्वभूतानां कालरूपिणमव्ययम् । इति वह्निं पूजयित्वा रामपत्नी यशस्विनी । ध्यायती मनसा तस्थौ राममुन्मीलितेक्षणा । अथावसथ्याद्भगवान् हव्यवाहो महेश्वरः । आविरासीत्सुदीप्तात्मा तेजसैव दहन्निव । सृष्ट्वा मायामयीं सीतां स रावणवधेच्छया । सीतामादाय धर्मिष्ठां पावकोऽन्तरधीयत । तांदृष्ट्वा तादृशीं सीतां रावणो राक्षसेश्वरः । समादाय ययौ लङ्कां सागरान्तरसंस्थिताम् । कृत्वा च रावणवधं रामो लक्ष्मणसंयुतः । समादायाभवत् सीतां शङ्काकुलितमानसः । सा प्रत्ययाय भूतानां सीता मायामयी पुनः । विवेश पावकं दीप्तं' ददाह ज्वलनोपि ताम् । दग्ध्वा मायामयीं सीतां भगवानुग्रदीधितिः । रामायादर्शयत्सीतां पावकोऽभूत् सुरप्रियः । प्रगृह्य भर्तुश्चरणौ कराभ्यां सा सुमध्यमा । चकार प्रणतिं भूमौ रामाय जनकात्मजा । हृष्टा हृष्टमना रामो विस्मयाकुललोचनः। ननाम शिरसा वह्निं तोषयामास राघवः । उवाच वह्ने ! भगवान् ! किमेषा वरवर्णिनी । दग्धा भगवता पूर्वं दृष्ट्वा मत्पार्श्वमागता । तमाह देवो लोकानां दाहको हव्यवाहनः । यथा वृत्तं दाशरथिं भूतानामेव सन्निधौ, इत्यादिना । एवमग्निपुराणमपि दृश्यम ।

अतएव सन्दर्भ में भी कहा गया है कि सामान्य पतिव्रता मात्र का भी दूसरे से परिभव नहीं होना है। यह सर्वशास्त्रों में बिद्ध है। फिर साक्षात स्वरूप और समस्त शक्तियों की सारभूता जो कि विरुद्धभाववालों से देखने में भी अशक्या हैं उनका दूसरे में परिभव कैसे हो सकता है ? अतएव कूर्म पुराण के ३२ वें अध्याय के अन्त में यह कहा है कि पतिव्रता मात्र का दूसरे से परिभव होना सम्भव नहीं है सो कैमुत्य न्याय से श्रीसीतादेवी का उदाहरण किया कि जैसे - 'पतिव्रता धर्म में रत श्रीपार्वतीजी का यहाँ कोई भी जन परिभव नहीं कर सकता है वैसे ही श्रीजानकीजी का भी कोई परिभव नहीं कर सकता इसमें सन्देह नहीं है। दाशरथी श्रीरामजी की पत्नी सुभगा, त्रिलोक में विश्रुता श्रीसीताजी को रावण ने जीतना चाहा। विमला, विशालनयना, श्रीरामजी की भार्या,

श्रीसीताजी को काल से प्रेरित रावण ने तापस रूप को माया से ग्रहण करके विजन वन में रहती हुई पूजने योग्य श्रीजानकीजी को हरने का विचार किया। श्रीसीताजी ने उसके वैसे भाव को जान कर अपने पति दाशरथी श्रीरामजी का स्मरण किया और आवसथ्य नामक अग्नि की शरण में गई और हाथ जोड़कर साक्षात् पति श्रीअच्युत की तरह महायोगी और सब पापों के नाश करनेवाले अग्नि का उपस्थान करके बोलीं कि 'महायोगी' कृतान्त के सदृश, गहन पत्र वाले सब भूतों के दाहक और कालरूपी अव्यय अग्निदेव को मैं नमस्कार करूँगी, इस प्रकार यशस्विनी श्रीरामपत्नी श्रीसीताजी अग्नि की पूजा करके मन से श्रीरामजी का ध्यान करती हुई नेत्रों को बन्द करके खड़ी हो गईं। इसके बाद उस आवसथ्य से भगवान् हव्यवाहक महेश्वर सुन्दरदीप्ती वाले अपने प्रकाश से जलते हुए प्रकट हो गये। उन्होंने रावण के वध करने की इच्छा से मायामयी सीता को पैदा किया और वास्तविक धर्मिष्ठा श्रीसीताजी को लेकर अन्तरध्यान हो गये । तब राक्षसेश्वर रावण वैसी ही मायामयी सीता को देखकर और उन्हीं को लेकर समुद्र के बीच में स्थित लंका को चला गया । लक्ष्मण जी के सहित श्रीरामजी रावण का वध करके सीताजी को लेकर आकुलित मन हुए, तब वह मायामयी सीता सब भूतों के विश्वास के लिये अग्नि में प्रवेश कर गई, तब अग्निदेव ने भी उन मायामयी सीता को जला दिया, उग्रकिरण वाले भगवान् अग्निदेव ने मायामयी सीताजी को जलाकर देवताओं के प्रिय अग्नि ने वास्तविक सीता रामजी को दिखलाई तब सुमध्यमा श्रीजानकीजी ने पतिदेव के श्रीचरणों को दोनों हाथों से पकड़ कर भूमि में श्रीरामजी को प्रसन्न होकर नमस्कार किया और रामजी भी प्रसन्न मन तथा विस्मयाकुललोचन हुए, सिर झुकाकर प्रणाम करके अग्नि को सन्तोषित किया और रामजी अग्नि से बोले हे भगवन् ! यह श्रेष्ठ वर्णवाली श्रीमैथिली को आपने पूर्व में जला दिया था लेकिन फिर भी बड़े भाग्य से मेरे पास में आ गईं । तब लोकों को जलानेवाले अग्नि देव ने श्रीदाशरथी रामजी से समस्तभूतों के समक्ष में ही सम्पूर्ण पूर्व का वृत्तान्त कह सुनाया अर्थात् कैसे-कैसे पहले प्रवेश किया था आदि-आदि वृत्तान्त कहे । इसी प्रकार से अग्नि पुराण में भी देखने में आता है।

तदेवमपि यत्तु वाल्मीकिनानेदं स्पष्टीकृत तत्खलु करुणारसपोषणार्थमेवेति गम्यते, सेयंचतस्य परिपाटी क्वचिदन्येनाप्युपजीव्यत इति ज्ञेयम् अत्र वह्निर्भगवानेव नाग्निः । 'यथावसथ्याद्भगवान् हव्यवाहो महेश्वरः' इत्यत्रावसथ्य रूपाग्नेर्भगवतो महेश्वरस्यच पंचम्या भेदश्रवणात् दाहकं सर्वभूतानामित्यनेन बोधितस्य सर्वभूतदाहकत्वस्येशान इत्यनेन बोधितस्येशानत्वस्यच परमात्मनोऽन्यस्मिन्नसम्भवाच्च यथा 'अत्ताचराचरग्रहणात्' (ब्रह्मसूत्र ११२ । ९) इत्यधिकरणेयस्य ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चोदनरूपा इत्यर्थक कठवल्लीवाक्ये चराचरादन कर्तृत्वमीश्वरातिरिक्तस्य न सम्भवति तस्मात्सर्वादन ईश्वर इति- सिद्धान्तितम् । यथावा वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' (ब्रह्मसूत्र १।२।२५) इत्यधिकरणे वैश्वानरशब्दोऽग्नौरूढोपि द्युमूर्धत्वादेरसम्भवादीश्वरपर इति सिद्धान्तितं, तथाऽत्रापि हव्यवाहशब्देन भगवानेव ज्ञेयः । अतएवात्र स्पष्टमेवाच्युतपदमस्ति । एवंच भगवत्तेजस्येवतस्या अवस्थानमिति तात्पर्यार्थः ॥

तब इस प्रकार होने पर भी जो श्रीवाल्मीकिजी ने स्पष्टीकरण नहीं किया सो तो करुणारस के पोषणार्थ ही नहीं किया । यही ज्ञात होता है, क्योंकि वाल्मीकिजी की यह परिपाटी है कि कहीं पर दूसरों के प्रतिपादित विषय को भी मान लेते हैं यह जानना चाहिये । यहाँ वह्निपदवाच्य भगवान् श्रीरामजी ही हैं, अग्नि नहीं है, क्योंकि 'यथावसथ्यात्' यहाँ अवसथ्यरूप अग्नि से भगवान् महेश्वर का पंचमी विभक्ति के द्वारा भेदश्रवण होने से और 'दाहकं सर्वभूतानां' इस से बोधित सर्वभूतों की दाहकता तथा 'ईशानः' द्वारा बोधित ईशानता परमात्मा से भिन्न में असम्भव है। जैसे अत्ताधिकरण में जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदनरूप हैं इस अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले कठवल्ली उपनिषद के वाक्य में चराचर का भक्षणकर्तृत्व ईश्वर से अन्य में सम्भव नहीं है। अतः, सबों का अदन (भक्षण) करनेवाला ईश्वर ही है यह सिद्धान्त किया गया है अथवा वैश्वानराधिकरण में वैश्वानरशब्द अग्नि में रूढ़ भी है तथापि साधारण अग्नि में द्युमूर्द्धत्वादि का असम्भव होने से वैश्वानर शब्द ईश्वरपरक है यह सिद्धान्त किया है, उसी प्रकार से यहाँ भी हव्यवाहशब्द से भगवान को ही समझना चाहिये । अतएव यहाँ स्पष्ट ही अच्युत पद का प्रयोग है। इस तरह भगवत्तेज में ही श्रीसीताजी का अवस्थान रहा यह तात्पर्य है -

अतएव निबन्धे श्रीवल्लभाचार्यैरुक्तं 'सीताया हरणं नास्ति नर्येणेशान्तिकं कृता । तेनैव निर्मिता माया तामग्नौ विनिवेश्यतु । हत्वा रावणमत्युग्रं तां गृहीत्वा पुरं ययौ' इति । नर्येण वह्निना ईशस्य अन्तिकं कृतेत्यर्थः । नर्यशब्दो वह्निवाचको वेदे प्रवासोरस्थाने । अन्यथा वह्नेरपि परपुरुषत्वात्तत्संस्पर्शोऽपि श्रीजानक्या अयुक्त एव । एतएव सन्दरकाण्डे हनुमद्वाक्यं नहि धर्मात्मनस्तस्य भार्याममिततेजसः । स्वचरित्राभिगुप्तां तां स्प्रष्टुमहर्ति पावकः (वा. सु. स. ५५ श्लो. २३) इति । हनुमता मत्पृष्टे स्थित्वा श्रीरामं प्रति गच्छेति जानकीं प्रत्युक्ते तयोक्तं 'भर्तृभक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर । मया पुनः पुमानन्यो न युक्तः स्प्रष्टुमात्ममना (वा. सु. स. ३७ श्लो ६२) इति । अतोऽग्नेः परपुरुषत्वात्तत्स्पर्थोऽयोग्यस्तस्मात् श्रीरामतेजसैव तस्या रक्षणमुचितम् । अतएव 'रक्षितांस्वेनतेजसा' (वा. यु. स. ११८ श्लो. १६) इति वाल्मीकीये स्पष्टमेव श्रीरामतेजसा रक्षणमुक्तं, तदेवं रामायणेऽपि मायासीता हरणं सूचितम् ।

अतएव निबन्ध में श्रीवल्लभाचार्य जी ने कहा है कि श्रीसीताजी का हरण नहीं है क्योंकि अग्निदेव ने सीता को ईश्वर के पास में कर दिया था और उन्हीं ने उनको अग्नि निवेश करके मायामयी जानकी का निर्माण किया । अति उग्र रावण को मारकर उन सीताजी को लेकर अपने पुर श्रीअयोध्या को आये । यहाँ पर नर्य शब्द का अर्थ अग्नि है क्योंकि नर्य शब्द वह्नि का वाचक है, यह वेद प्रवासोपस्थान में है यदि ऐसा न स्वीकार करेंगे तो अग्नि भी परपुरुष होने से उसका स्पर्श भी जानकी के लिये अयुक्त ही है। अतएव सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमानजी का वचन है कि 'अमिततेजस्वी धर्मात्मा श्रीरामजी की भार्या जो अपने चरित्रों से अभिगुप्त (रक्षित) हैं उनको अग्नि स्पर्श नहीं कर सकता है' और जब हनुमानजी ने 'हमारी पीठ पर बैठकर श्रीरामजी के पास आप

चलें' ऐसा कहा तब जानकीजी ने हनुमानजी से कहा कि 'हे वानर पति भक्ति को आगे रखते हुए श्रीरामजी से अन्य का स्पर्श करना मेरे लिये योग्य नहीं है। अपनी इच्छा से अन्य पुरुष का स्पर्श अयुक्त है' । अतः, अग्नि पर पुरुष होने से उसका स्पर्श अयुक्त है। अतः, श्रीरामजी के तेज से ही श्रीसीताजी का रक्षण हुआ यही मानना उचित है। अतएव 'अपने तेज से रक्षिता को' इस वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट ही रामजी के तेज से रक्षण कहा गया । इस प्रकार रामायण में भी मायामयी सीता का हरण सूचित किया ।

तथाहि युद्धकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तके 'तनुमध्या पृथुश्रोणी शारदेन्दुनिभानना । हेमबिम्वनिभा सौम्या मायेव मयनिर्मिता' । (वा. यु. स. १२ श्लो. १४) इति वचनेन यथा मयनिर्मिता माया न वास्तवी, तथा रावणेन लङ्कायां स्थापिताप्यवास्तवी । मायेति दृष्टान्तेन कूर्मपुराणा द्युक्तं छाया सीतारूपं सूचितं स्पष्टमेव । युद्ध काण्डेपि माहेश्वरटीका पुस्तके - 'विधूयाध चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः । उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम्' (वा. यु. स० ११८ श्लो. २) इत्यनेन च प्रतिपादितम् । श्लोकार्थश्च स हव्यवाहनो वह्निः चितां विधूय तां तु मायानिर्मितां सीतां विधूय, साक्षात्सीतां च गृहीत्वा उत्तस्थौ इत्यन्वयः । तां विधूय जनकात्मजां गृहीत्वेत्यत्र 'तु' शब्दश्चार्थे तां च वैदेहीम् । वह्निपुराणोक्त मायासीता स्वरूपभूतसीतयोर्भेदः स्पष्ट एव । अतएव वैदेहीत्युक्तं मायामयत्वादेव तस्याः साक्षाद्देहाभावः, साक्षात्सीतायास्तु 'जनकात्मजात्वं तस्या एव, नत्वेतस्याः । अन्यथा वैदेही पदस्य पौनरूक्त्यं स्यात् ।

तथाहि माहेश्वरीय टीकावाली पुस्तक के युद्धकाण्ड में 'पतली कमर, स्थूल नितम्ब, शारदीयचन्द्रसदृशमुख, सुवर्ण के सदृशकान्तिवाली सौम्या, श्रीमैथिलीजी मयनिर्मित माया की तरह से हैं' इस वचन से जैसे मयनिर्मिता माया वास्तविक नहीं होती है उसी प्रकार रावण जिनको लंका में ले गया था वे भी वास्तविक नहीं थी । माया इस दृष्टान्त से कूर्मपुराण आदि में कहा गया छाया सीताजी का रूप स्पष्ट रूप से सूचित किया । युद्ध काण्ड में भी 'विधूयाथ' इस श्लोक से उपरितनोक्त अर्थ प्रतिपादन किया है। विधूयाथ इस श्लोक का अर्थ यह है कि वह अग्नि उस चिता को अलग करके और माया निर्मिता सीता को अलग करके साक्षात् सीता को लेकर उठे । यहाँ 'तु' शब्द 'च' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है अत एव उपयुक्त अर्थ होता है। वह्निपुराणोक्त मायासीता और स्वरूपभूत सीता का भेद स्पष्ट ही है अतएव 'वैदेही' ऐसा कहा है। मायामय होने से ही उनका साक्षात् देह का अभाव है ! साक्षात् सीताजी को ही जनकात्मजा होना निश्चित है। मायामयी सीता को नहीं है अन्यथा वैदेही पद की पुनरुक्ति हो जायगी ।

तथा माहेश्वरटीका पुस्तके 'हुताग्निरुचिः सङ्काशामेनां सौरीमिव प्रभाम्, (वा. यु. स. १२ श्लो. १६) इत्यत्र सूर्यस्य स्त्री सूर्या संज्ञा तस्या इयं सौरी या प्रभा छाया तामिवेत्यनेन यथा छाया संज्ञायाः प्रतिकृतिस्तथा रावणहृतेयमपि वैदेही सीतायाः प्रतिकृतिरिति सूचितम् । प्रभाशब्दश्छायावाची ज्योतिः शास्त्रे 'शंकोः प्रभा' इत्यादौ प्रसिद्धः । तथा आरण्यकाण्डे

माहेश्वरटीका पुस्तके 'तत्र तामसीतापाङ्गीं शोकमोह परायणाम् । निदधे रावणः सीतां मयो मायामिवा सुरीम् (वा. आ. स. ५४ श्लो. १४) इति दृष्टान्तेनास्याः सीताया मायिकत्वमेव सुव्यक्तम् ।

तथा वाल्मीकीय रामायण की माहेश्वर टीका पुस्तक में 'हवन की हुई अग्नि की दीप्ति के समान सौरी प्रभा के सदृशा' इस स्थल पर सूर्य की स्त्री का नाम सूर्या अर्थात् संज्ञा नाम है उसकी सम्बन्धिनी को सौरी कहते हैं तथा च संज्ञा नामिका सूर्य की भार्या की सम्बन्धिनी जो प्रभा छाया, उसकी तरह इस कथन से जैसे छाया संज्ञा की प्रतिकृति है उसी प्रकार रावण से हरण की गई भी वैदेही श्रीसीताजी की प्रतिकृति है यह सूचित किया। प्रभा शब्द छाया वाची है। यह ज्योतिष शास्त्र में 'शंकोः प्रभा' इत्यादि स्थलों पर प्रसिद्ध है तथा आरण्यकाण्ड में भी 'लंका में रावण ने शोक मोह परायण, असितापाङ्गी श्रीसीताजी को इस प्रकार से निवेश किया जैसे, मय दानव आसुरी माया को निवेश करे' इस दृष्टान्त से इन श्रीसीता का मायिक होना ही व्यक्त होता है।

तथा च माहेश्वरटीका पुस्तकस्थ युद्धकाण्डे - 'नहिशक्तः प्रदुष्टात्मा मनसापि च मैथिलीम् । प्रधर्षयितुमप्राप्तां दीप्तामग्निशिखामिव । नेयमर्हति चैश्वर्यं रावणान्तः पुरे शुभा । अनन्याहि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा । विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा । न विहातुमियं शक्या कीर्तिरात्मवता यथा (वा. यु. स. ११८ श्लो. १७-१९) इत्यत्र मनसापि प्रधर्षयितु मशक्येत्युक्ते रावणेन छायासीताया एवापहारः कृत इति सूचितम् । तथा च युद्धकाण्डे 'इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा । रावणो नाति वर्तेत वेलामिव महोदधिः । प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः । उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् '(वा. यु. स. ११८ श्लो. १६-१७) इत्यत्र स्वेन तेजसेति 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजोविद्धि मामकम् (भ. गी. १५-१२) इत्याद्यनुसारेण मम यत्तेजो वह्नौ वर्त्तते तेन तेजसा वह्निरूपेण मायामयीं सीतां निर्माय रावणं प्रतार्य जनकात्मजा मयैव रक्षिता । स्वेन तेजसा रक्षितायाः सूर्यतेजोवृत्तत्वाद्दर्शनं भवति तद्वत् । अतः इमां रावणोनातिवर्तेत नापहृतवान् यथा सुमुद्रो वेलां नाति वर्तेतेत्यनेन रावणहृताया मायिकत्वमेव स्पष्टीकृतम् ।

तथा च माहेश्वरटीका पुस्तकस्थ युद्धकाण्ड में वह दुष्टात्मा रावण श्रीमैथिलीजी को मन से भी धर्षणा करने में समर्थ नहीं है। जैसे प्रदीप्त अग्नि की शिखा को स्पर्श न कर सके। यह परम शुभा श्रीमैथिलीजी रावण के अन्तःपुर में ऐश्वर्य को स्वीकार करने के योग्य नहीं है, भास्कर की प्रभा के समान श्रीसीताजी हमसे अनन्या हैं। तीनों लोकों में जनकात्मजा श्री मैथिलीजी विशुद्ध हैं । आत्मवान् जैसे अपनी कीर्ति को न त्यागे उसी प्रकार मैं इनको त्याग नहीं सकता हूँ।' यहाँ पर मनसे भी प्रधर्षित करने के लिये अशक्य हैं, यह कहने पर रावण ने छाया सोता का ही अपहार किया था यह सूचित किया । तथा च युद्ध काण्ड में 'इन विशाल नेत्रवाली अपने तेज से रक्षित श्रीमैथिली जी को रावण अतिवर्तन नहीं कर सकता है। जैसे समुद्र वेला को अतिक्रमण नहीं करता, सत्यप्रतिज्ञ मैंने तीनों लोकों के विश्वास के लिये अग्नि में प्रवेश करती हुई वैदेही की उपेक्षा

की, यहाँ पर 'जो चन्द्रमा और अग्नि में तेज है वह मेरा तेज है, इस भगवद्गीता के वचन के अनुसार 'स्वेन तेजसा' कहने से हमारा जो तेज अग्नि में है उसी तेज से अर्थात् अग्निरूप से मायामयी सीता को प्रगटकर रावण का प्रतारण कर मैंने ही जानकी जी की रक्षा की । अपने तेज से रक्षित श्रीसीताजी का दर्शन सूर्य के तेज से आवृत का दर्शन जैसे होता है उसी प्रकार हुआ अथवा अपने तेज से रक्षिता श्रीसीताजी का दर्शन कैसे होता है कि जैसे अपने तेज के आवरण से सूर्य का दर्शन होता है। तात्पर्य्य यह है कि सूर्य का इतना प्रबल तेज प्रचंड है कि जिस करके चारों तरफ तेज ही तेज दिखाता है। सूर्य तेज के भीतर है। सूर्य को कोई भी नहीं देखता है, अतः कोई धर्षण नहीं कर सकता है, इसी तरह श्रीसीताजी अपने तेज ही से रक्षिता हैं। अतः, इनका अतिवर्तन रावण नहीं कर सकता अर्थात् अपहरण नहीं कर सकता । जैसे समुद्र अपनी वेला का अतिक्रमण नहीं करता है। इससे रावण से हरण की गई सीता का मायिक होना ही सिद्ध होता है।

अतएवाध्यात्मरामायणेऽपि मायासीताहरणं स्पष्टमेवोक्तमेभिर्वचनैस्तानिच 'अथ रामोपि तत्सर्वं ज्ञात्वा रावण चेष्टितम् । उवाच सीतामेकान्ते शृणु जानकि मद्वचः । रावणो भिक्षु रूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम् । त्वं तु छायां त्वदाकार स्थापयित्वोटजेविश । अग्नावदृश्यरूपेण वर्षं तिष्ठं ममाज्ञया । त्वं रावणवधान्ते मां पूर्ववत्प्राप्स्यसे शुभे । श्रुत्वा रामेरितं वाक्यं सापि तत्र तथाकरोत् । मायासीतां बहिः स्थाप्य स्वयमन्तर्दधेऽनले' (अ. आ. ७।१-४) इत्यादीनि । सुन्दरकाण्डे 'नेमाः पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्प फलद्रुमान् । एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति, (वा. सु. स. १६ श्लो. २५) । लङ्कायां श्रीरामस्याविद्यमानत्वेन छायासीताया अपि दर्शनं कथमित्याशंकायामनुपश्यतीत्युक्तं, यतो मूलरूपा सीता रामं पश्यति, इयं छायासीता तु तस्या प्रतिकृतिरस्ति, अतोऽनुपश्यतीत्युक्तं, तथा च तस्या दर्शनानुरोधेनास्या अनुदर्शनं युक्तमेव, अत एवानुपश्यतीत्युक्तम् एतदभिप्रायेणैव जानकी विलासे लङ्कायां रासादिवर्णितं, तत्र श्रीरामगमनं छाया रूपेणैव जानकी विलासः । तस्माद्रावणहृता सीता मायिक्येव नतु वास्तविकीति सिद्धम् ।

अतएव अध्यात्मरामायण में मायिक सीता का हरण स्पष्टतया वक्ष्यमाण इन वचनों से कहा गया है कि 'रामजी भी उस रावण के चेष्टित को जानकर एकान्त में श्रीजानकी जी से बोले कि हे जानकी ! हमारे वचनों को सुनो कि रावण भिक्षु रूप से आपके पास में आवेगा । अतः, आप छाया रूप अपने आकार को पर्णकुटी में स्थापित करके अदृश्य रूप से अग्नि में प्रवेश कर जाओ और आप मेरी आज्ञा से एक वर्ष तक ठहरो और रावण वध के बाद हे शुभे ! पहले की तरह हमको प्राप्त हो जाओगी । श्रीजानकी जी ने श्रीरामजी के वैसे वचनों को सुनकर वैसा ही किया अर्थात् मायामयी सीता को बाहर स्थापित करके स्वयं श्रीसीता जी अग्नि में अन्तर्धान हो गई और सुन्दरकाण्ड में यह श्रीजानकी जी न तो राक्षसियों को और न पुष्प फल वाले वृक्षों को देखती है किन्तु एकाग्र मन से निश्चय करके श्रीरामजी को ही देखती है। लंका में श्रीरामजी के न रहने से

छाया सीता को भी श्रीरामजी का दर्शन कैसे हुआ इस शंका पर ही 'अनुपश्यति, ऐसा कहा क्योंकि मूलरूपा श्रीसीता श्रीरामजी को प्रथम देखती है और छाया सीता तो मूलरूपा सीता की प्रतिकृतिरूपा है इसीलिये 'अनुपश्यति' कहा है तथाच स्वरूपभूत सीता के दर्शन के अनुरोध से छाया सीता को अनुदर्शन होना युक्त ही है। अतएव 'अनुपश्यति' ऐसा कहा है। इसी अभिप्राय में जानकी विलास नामक ग्रन्थ में लंका में रासादिका वर्णन किया है तथा श्रीरामजी का जाना और छाया रूप से ही जानकी के साथ विलास किये । इसलिये रावण से हरण की गई जानकी मायामयी थी वास्तविक नहीं थी यह सिद्ध हुआ ।

ननु स्वेन तेजसैव श्रीसीता संयुक्ता चेद्वियोगस्तत्कृत विलापादिकं च कथमिति चेदुच्यते - 'कुररि विलपसि, (भा. १०।९०।१५) इत्यादिना श्रीभागवते यथा महिषीणां कृष्णसान्निध्येऽपि प्रेम वैचित्र्याद्विलापादिकमेवमत्रापि ज्ञेयम् । एवं रीत्या बहुतर वियोगप्रदर्शनं तु लोकदृष्ट्योपरित एव। अत एवोक्तं श्रीभागवते 'नस्त्रीकृतं कश्मलश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति (भा. ५।१९।६) इति । वाल्मीक्याश्रमेऽपि तच्चाग्रे प्रतिपादयिष्यते ।

यदि अपने तेज से ही श्रीसीताजी संयुक्त थी तब उनका वियोग और विलापादिक कैसे संगत होंगे ? तो सुनो कहते हैं कि 'कुररि विलपसि' इत्यादि श्रीभागवत में जैसे महिषियों के श्रीकृष्ण समीप होते हुए भी प्रेम की विचित्रता से उनका विलापादिक है उसी प्रकार से जानना चाहिये । यथा - प्रियस्य सन्निकर्षेपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः । याविश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेम वैचित्र्यमुच्यते ॥ अर्थात - प्रिय के समीप होते हुए भी प्रेमोत्कर्ष के स्वभाव से जो वियोग के ज्ञान से दुःख होता है वही प्रेम की विचित्रता कही जाती है। इस तरह समन्वय करने पर जो बहुत सा वियोग दीख पड़ता वह तो केवल लोकदृष्टि (ऊपर) से है। अतएव श्रीभागवत के पंचम स्कन्ध में कहा है कि 'श्रीसीता वियोग के श्रम को आप प्राप्त नहीं हो सकते हैं और न श्रीलक्ष्मणजी को ही त्याग सकते हैं।' वाल्मीकीजी के आश्रम में भी यही समझना, इसको आगे चलकर प्रतिपादन करेंगे ।

ततः सुग्रीवमैत्री, बालिवधः, वानराणामा कारणं, समुद्रतरणं, लङ्कानिरोधः रावणवधः रावणस्य मुक्तिः । तत्र पूर्वं हतारिमुक्तिदायिकत्व प्रकरणे प्रमाणमुक्तमेव ।

फिर श्रीराम सुग्रीव की मित्रता, बालि का बध, वानरों को चारों दिशाओं से बुलाना, समुद्र को पार कर लंका को घेरना रावण का वध और रावण को मुक्ति होना मुक्ति देने में प्रमाण तो 'हतारिमुक्तिदायक' प्रकरण में पहले ही कह चुके हैं।

ननु रावणस्य मुक्तत्वात् कथं पुनर्जन्म ? इति चेदुच्यते एतत्समाधानं कल्पभेदेन ज्ञेयं, विष्णुपुराणीयकथा कल्पे जयविजययोः शापवशात्पाते तृतीयजन्मनि मुक्तिहेतूनां सम्भवेन तृतीय जन्मन्येव मुक्तिः । यत्र तु अध्यात्म रामायणादौ मुक्तिरेवोक्ता तत्कथा कल्पे रावणोभिन्नो, हिरण्यकशिपुर्भिन्नः शिशुपालो भिन्न एव, तेषां मुक्तिरेव न जन्म,

मुक्तानामपि सप्रयोजनस्वेच्छा प्रद्योतितभगवदिच्छावशाजन्माङ्गीकारेऽपि बाधकं नास्ति, यथा वैकुण्ठस्थयोर्जयविजययोर्जन्म स्वेच्छास्फोरितभगवदिच्छावशात् । ततः सीतापरिशोधनमिषेण मायिकसीताया वह्नौ तिरोधानं वास्तव सीतायाः प्राकट्यमयोध्यामागमनं तत्र राज्याभिषेकः तदुत्तरं दशसहस्त्रवर्षपर्यन्तं राज्यपरिपालनं ततो प्राकट्यमेव 'राज्यं दशसहस्राणि प्राप्य वर्षाणि राघवः' (वा. लं. सं. १३१ श्लो. ९५) इति लंकास्थोत्तरकाण्डीय वचनात् । तत्रापि सीतया सहविहारोपि तावत्कालमेव एवं तयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् । दशवर्ष सहस्राणि गतानि सुमहात्मनोः' (वा. उ. स. ४२ श्लो. २५) इति वाल्मीकीय वचनात् तस्मात्सीतया सह विहारोऽप्यप्राकट्यपर्यन्तमेव ।

यदि शंका करो कि जब रावण मुक्त हो गया तो फिर उसका जन्म कैसे भया तो इसका समाधान कल्प भेद से जानना चाहिये अर्थात् विष्णुपुराण की कथाकल्प में जय और विजय का शाप से पतन होन पर तीसरे जन्म में मुक्त होने के हेतुओं का सम्भव होने से तीसरे जन्म में ही मुक्ति हुई और जिन अध्यात्म रामायणादि ग्रन्थों में मुक्ति कही गई है उस कथा कल्प में रावण, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल, ये तीनों भिन्न ही भिन्न हैं उनकी तो मुक्ति हो ही गई फिर जन्म नहीं भया । मुक्त पुरुष भी प्रयोजन के सहित अपनी इच्छा सम्बलित भगवान की इच्छा से जन्म अङ्गीकार भी करले तो कोई बाधा नहीं है। जैसे वैकुण्ठ में भी रहने वाले जय और विजय का जन्म अपनी इच्छा विशिष्ट भगवान की इच्छा से हुआ । तब सीताजी के परिशोधन के बहाने से मायिक सीता जी का अग्नि में तिरोधान हो जाना और वास्तविक सीता जी का प्रगट हो जाना और अयोध्या में आना, अयोध्या में राज्याभिषेक होना, राज्याभिषेक बाद दश हजार वर्ष तक राज्य का परिपालन करना तदनन्तर अप्रकट होना क्योंकि 'दश हजार वर्ष तक राघव ने राज्य को प्राप्त किया' इस उत्तरकाण्डीय वचन से सिद्ध होता है। तथापि श्रीसीताजी क साथ विहार भी उतने ही कालतक का वाल्मीकिजी के वचन से सिद्ध होता है, यथा - इस प्रकार से श्रीसीताराघव को बहुत दिनों तक विहार करते हुए दश हजार वर्ष व्यतीत हो गये । इसलिये सीताजी के साथ विहार भी अप्रकट पर्यन्त हुआ अर्थात् प्रकट कालीन वर्षों की गणना कर अप्रकट पर्यन्त विहार किया, नित्य विहार किया कभी भी आप का विहार विश्रमित नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि लीला दो प्रकार की है - एक प्रकट और एक अप्रकट । जन्मादि लीला सांसारिक जनों के ऊपर कृपा करके जब आप दर्शाते हैं तब वह लीला प्रकट कही जाती है और वही लीला जब सांसारिक जनों के नेत्रों से अदृश्य होती है तब अप्रकट कही जाती है । स्वरूपतः दोनों में किसी तरह का भेद नहीं है। इसी को पूर्वोक्त प्रकरण में कह आये कि जब तक प्रपंचगोचर लीला रही तब तक श्रीमैथिलीजी के सहित राघवेन्द्र के विहार का विराम कभी भी न हुआ । विहार होते ही अप्रकट विहार-लीला को प्राप्त हो गये, इससे रासविहारादि दोनों का नित्य होता रहा, कभी वियोग न हुआ ।

न च सीतां निर्वास्य स्वर्णमयीं सीतां कृत्वा रामो यज्ञाँश्चकारेति माहेश्वरटीका पुस्तके 'यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत् । दशवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत् । (वा. उ. स. ९९ श्लो. ७) इत्यादिना वाल्मीकियरामायणादौ प्रतीयमानत्वात्कथं तावत्कालपर्यन्तं श्रीसीतया सह विहार इति वाच्यम् । तट्टीकाकर्तृभिरेव माहेश्वरैः 'एवं प्रशासतस्तस्य राघवस्य महेश्वरि । अत्ययाद्दशसाहस्रं रममाणस्य सीतया' इति पद्मपुराणवचनमुत्थाप्य कलाभेदस्यैव स्वीकारात् । कला भेदो नाम प्रकाशभेदः स च कोशलखण्डे शिवेनैकस्मिन् सपरिकरस्य श्रीरामे दृष्टः । तथा च सीता यज्ञे-यज्ञे इति अभवत् सीता वियोगादनन्तरं 'दशवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्' इत्येतद्वचनं कलाभेदविवक्षयोक्तमिति दृष्टव्यम् ।

यदि कहो कि श्रीसीताजी का निर्वासन करके और स्वर्णमयी श्रीसीता को बनाकर श्रीरामजी ने यज्ञों को किया यह बात 'प्रति यज्ञ में श्रीजानकी जी सुवर्ण की भईं और दश हजार वर्षों' तक आपने अश्वमेधों को किया इस वाल्मीकि के वचन से प्रतीत होता है तब उतने काल तक श्रीसीताजी के साथ विहार कैसे कहा गया ? यह शंका होने पर समाधान करते है कि माहेश्वरजी ने ही अपनी टीका में 'इस प्रकार राज्य करते हुए और श्रीसीताजी के साथ रमण करते हुए श्रीरामजी के दश हजार वर्ष व्यतीत हो गये' इस पद्मपुराण के वचन का उत्थापन करके कलाभेद को ही स्वीकार किया है। कलाभेद कहते हैं - प्रकाश भेद को । वह कलाभेद कोशलखण्ड में श्रीशिवजी ने एक ही सपरिकर श्रीरामजी में देखा है । तात्पर्य यह है कि शिवजी ने एक ही समय में अनेकों स्थान पर हर एक परिकर के समाज में प्रकाश भेद से सब परिकरों के सहित एक ही राघव को देखा (प्रकाशभेद उसको कहते है कि जैसे एकही दीपक से अनेक दीपक का होना)। तथा च प्रतियज्ञ में श्रीसीताजी रहीं और श्रीसीतावियोग के बाद 'दशहजार वर्ष तक अश्वमेध यज्ञों को किया' ये सब वचन कलाप्रकाश भेद की विवक्षा से कहे गये हैं ऐसा देखना चाहिये ।

एवं वाल्मीकि रामायणेऽपि सरय्वां गमने श्रीसीतया सहितस्य श्रीरामस्य प्रस्थानश्रवणमस्ति । यद्वा एवं प्रकारेण समाधेयम् - श्रीरामस्य जानक्या सहाशोकवन एकादशसहस्र वर्ष पर्यन्तं प्रकटप्रकाशेन विहार उक्तः, अशोकवन देवता तु वृन्दावन देवता वृन्दावदशोकमालिनी नाम यथोक्तं सम्मोहनतन्त्रे 'अशोकमालिनी नाम्नी अशोकवनदेवता । अशोकलतिकायां तु वसाम्यस्यां महामुने ।' तस्या ध्यानं चोक्तं तत्रैव रक्ताम्बरधरा नित्यं रक्तमाल्यानुलेपना । रक्तसिन्दूरकलिता रक्तोत्पलावतंसिनी । रक्तमाणिक्य केयूर मुकुटादि विभूषिता ।' इति । रामाश्वमेधे सप्तपंचाशाध्याये 'स तया सह वर्षाणां सहस्राण्येक वै दश । राज्यं करिष्यते धीमानाकर्षन् भूमिपान् बली' (प. पु. पा. ख. ५७ अ. श्लो० १०) इति । वाल्मीकिरामायण उत्तरकाण्डे काश्मीर पुस्तकपाठे 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष शतानि च । ययुस्तेषां सुमनसां यशः प्रथयतां भुवि । धर्मे प्रयतमानानां पौरकार्येषु चैव हि । विहृत्य कालं परिपूर्णमानसाः श्रिया वृता धर्मपथे परे स्थिताः । त्रयः समिद्धाहुतिदीप्ततेजसो हुताग्नयः साधुमहाध्वरे यथा' (वा. उ. स. १०२ श्लो.

१६।१७) इत्यत्र प्रतिपादितस्थ सुमनस्त्वस्य विहारस्य परिपूर्णमानसत्वस्य श्रियावृत्तत्वस्य च सीतां विना सर्वथाऽसम्भवात् । एवं युद्धकाण्डे समाप्तौ 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । वीतशोकभयक्रोधो रामो राज्यमकारयत् (वा. यु. स. १३१ श्लो. १०२) इति श्लोके वीतशांकत्वादेश्चासम्भवात्तावत्पर्यन्तं संयोगः सिद्धयति ।

एवं वाल्मीकिरामायण में भी श्रीसरयू में आने पर श्रीसीता जी के सहित श्रीरामजी का प्रस्थान सुना है। अथवा इस प्रकार से समाधान करना चाहिये कि श्रीरामजी का श्रीजानकी जी के साथ अशोक वाटिका में ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त प्रकट रूप से विहार कहा गया है, वृन्दावन की देवता वृन्दा की तरह अशोक वन की देवता का नाम अशोकमालिनी है, जैसा कि सम्मोहनतन्त्र में लिखा है कि 'अशोकमालिनी नामवाली अशोक वन की देवता हूँ, हे महामुने ! मैं अशोक की लताओं में वास करती हूँ।' उसी सम्मोहन तन्त्र में अशोक वन देवता का ध्यान भी कहा है कि 'वह अशोक वन देवता रक्त वस्त्र को धारण किये हैं, रक्तमाला और रक्त अनुलेपन किये हैं। रक्तसिन्दूरलक्षित, रक्तकमल से अलंकृत, रक्त माणिक्यमणि के केयूर, मुकुट आदि से विभूषित हैं" इति । रामाश्वमेध के छप्पन वें अध्याय में 'श्रीसीताजी के सहित वे श्रीरामजी राजाओं को अपने रूपशीलादि गुणों से खींचते हुए ग्यारह हजार वर्ष तक राज्य करेंगे' काश्मीर की वाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड में कहा है कि संसार में यश को प्रसिद्ध करते हुए धर्म और पुरवासियों के कार्यों में प्रयत्नशील, सुन्दर, यशस्वी तीनों भाईयों के ग्यारह हजार वर्ष बीत गये । श्री से आवृत्त, परमधर्मपथ में स्थित, हवन को आहुति से प्रदीप्त, अग्नि के समान तेजस्वी तीनों भाई संकल्पित काल को बिता कर परिपूर्ण मन वाले हैं, जैसे सुन्दर महायज्ञ में हवन की हुई अग्नि सब सुशोभित होवें । यहाँ पर जो सौजन्यता, विहार, परिपूर्ण मानसता, श्रियावृत्तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है वह श्रीसीता जी के बिना हो ही नहीं सकता है । एवं युद्धकाण्ड की समाप्ति में दश हजार और दश सौ अर्थात् ग्यारह हजार वर्ष तक श्रीरामजी ने शोक, भय, क्रोध से रहितहोकर राज्य किया, इस श्लोक से श्रीसीताजी के विना वीतशोकत्वादि असम्भव है, अतः तावत्काल पर्यन्त श्रीसीताजी के साथ आपका संयोग रहा यह निर्विवाद सिद्ध है ।

ननूत्तरकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तके 'एवं तयोर्विहरतोः मीनाराघवयोश्चिरम् । दशवर्षसहस्राणि गतानि सुमहात्मनोः' (व० उ० स० ४२ श्लो० २५) इति वचनेनाशोकवनविहारस्य दशसहस्रवर्षपर्यन्तमुक्तत्वात्कथमेकादश सहस्रवर्षपर्यन्तमुक्तोविहार इति चेदुच्यते - यथा युद्धकाण्डीय 'दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत् (वा० यु० स० १३१।१०४ इति माहेश्वरटीकापुस्तकस्थदशसहस्रपदस्य बालकाण्डीय 'दश वर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच । रामोराज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति' (वा० बा० स० १ श्लो० ९६) इति वचनानुरोधेनैकादशसहस्रवर्षोपलक्ष्यी कृतम् । तथैव 'एवंतयोर्विहरतोः' इति वचनेनापि रामाश्वमेधीय पूर्वोक्तवाक्यानुरोधेन वाल्मीकि

रामायणीय काश्मीरपुस्तकस्थ 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । ययुस्तेषां सुमनसां यशः प्रथयतां भुवि, इति वचनानुरोधेनच दशसहस्त्रपदस्यैकादशसहस्रोपलक्षकत्वम् ।

यदि कहो कि उत्तरकाण्ड में माहेश्वरीटीका के पाठ के अनुसार 'एवं तयोर्विहरतोः' इस वचन से अशोकवनविहार दश हजार ही वर्ष कहा गया है तब ग्यारह हजार वर्ष तक विहार करना क्यों कहा ? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे युद्धकाण्ड के 'दशवर्षसहस्राणि' इस दश सहस्र पद का बालकाण्डीय 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच' इस वचन के अनुरोध से ग्यारह हजार वर्ष में उपलक्षण किया है। उसी प्रकार 'एवं तयोर्विहरतोः' इस वचन से भी रामाश्वमेध के वचन के अनुरोध से और वाल्मीकि रामायण काश्मीरपुस्तक में स्थित 'दशवर्षसहस्त्राणि दशवर्षशतानिच । 'ययुस्तेषां' इस वचन के अनुरोध से दशसहस्रपद एकादशसहस्र का उपलक्षक है ।

दशसहस्राणामेकादशसहस्रपरत्वे अयं प्रकारः, एकादशसहस्राणीत्यनुक्त्वा दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च' इति यदुक्तं तेन प्रति सहस्रं शताधिकम् बोध्यते । यथाष्टोत्तर शतजपे शतपदेनैवाष्टोत्तरशतं बोध्यते तथात्रापि सहस्त्रपदेनैव शतोत्तरसहस्रं बोध्यमिति दशसहस्त्रपदेनैकादश सहस्रोपपत्तिः अयं चार्थो बोधितो 'दशवर्षशतानि च' इति दशवर्षशतानामप्रधानत्वापरनामकानुषं गित्वबोधकेन च शब्देन, भिक्षामट गांचानमयेतिवत् । अतः 'प्रधाने व्यपदेशाभवन्ति' इति न्यायेन दशवर्षसहस्राणां प्रधानत्वात्केवलं दशवर्ष सहस्राणीत्युक्तिर्व्याख्येया । अतएव वानरादि विसर्जनोत्तरमशोकवनिकायां दशसहस्रवर्षपर्यन्तं विहार उक्तस्तदुत्तरं वियोगस्तु नोक्तः प्रत्युत तत्कालागमनपर्यन्तं 'विहृत्य कालं परिपूर्णमानसाः' इति वचनेन विहार एवोक्तः ।

दशसहस्रवर्षों को ग्यारह हजार समझने का यह प्रकार है कि एकादशसहस्र ऐसा न कहकर 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच' ऐसा जो कहा गया है उस कथन से प्रति सहस्र सौ अधिक जानना चाहिये । जैसे अष्टोत्तरशत जप में शतपद से अष्टोत्तरशत ही बोधित होता है उसी प्रकार से यहाँ पर भी सहस्त्र पद से शताधिक सहस्र समझना चाहिये, इस तरह दशसहस्र पद से एकादशसहस्र बोधित हुए । यह उपयुक्त अर्थ 'दशवर्षशतानिच' यहाँ पर दशवर्षशत की अप्रधानता (आनुषंगिकता) बोधक च शब्द से 'भिक्षाको जाओ और गौ को भी लेते आना' इस वाक्य की तरह सिद्ध होती है। अतः 'प्रधान में ही व्यपदेश होते हैं' इस न्याय से दशवर्षसहस्रों की प्रधानता होने से केवल दशवर्षसहस्त्र ही कहा गया है। अतएव वानरों की विदाई के बाद अशोकवाटिका में दशसहस्रवर्ष पर्यन्त विहार कहा गया है, उसके बाद वियोग नहीं कहा गया है प्रत्युत उस समय के आने तक 'विहृत्यकालं परिपूर्णमानसाः' इस वचन से विहार ही कहा गया है।

यद्वा "दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच । रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति" (वा० बा० स० १ श्लो० ९६) इति वचने श्री रामस्यावस्थानमेकादशसहस्र वर्षपर्यन्तमुक्तम् । उत्तरकाण्डे 'दशवर्षसहस्राणि प्राप्य वर्षाणि राघवः' इति श्लोके

दशसहस्रवर्षपर्यन्तमुक्तम् । 'एवं तयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् । दशवर्षसहस्त्राणि गतानि सुमहात्मनो' इति श्लोके दशसहस्रवर्ष पर्यन्तं विहार उक्तस्तेन वचनानां परस्परं विरोधात्कथं वचनाविरोधः कथं वा नित्यविहार इति चेदुच्यते - 'दशवर्षसहस्राणि' इति इलोके नाक्षत्रमानेनैकादशवर्षसहस्राण्युक्तानि, नाक्षत्रमानेन दशवर्षमध्ये एकं वर्षं सौरवर्षमानापेक्षयाऽधिकमायाति । अतएव 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष शतानिच' इति श्लोके एकादशसहस्राणीत्यनुक्त्वा दशवर्षशतानि चेत्यनेन दशशतवर्षाणां पृथङ्गिनिर्देशः कृतः एकादशसहस्राणीति तु न कुत्रापि रामायणे श्रूयते । 'दशवर्षसहस्राणि प्राप्य वर्षाणि राघव' इत्युत्तरकाण्डीयश्लोके दशवर्षसहस्राणां सौरवर्षाभिप्रायेणोक्तिः । एवं विहार प्रतिपादक श्लोके दशवर्षसहस्राणामप्युक्तिः सौरवर्षाभिप्रायेण ज्ञेया, तथाच न पूर्वोक्तवाक्ययोः परस्परविरोधो नवा सहस्त्र वर्षपर्यन्तं श्रीजानक्या सह श्रीरामस्य वियोग सम्भावना ।

यदि कहो कि बालकाण्डीय 'दशवर्षसहस्रणि' इस वचन में श्रीरामजी का इस लोक में प्रकट रूप से रहना एकादश सहस्र वर्ष तक का कहा गया और उत्तरकाण्डीय 'दशवर्षसहस्राणि प्राप्य वर्षाणि राघवः' इस वचन से दशसहस्रवर्ष तक ही कहा गया, तथा 'एवं तयोर्विहरतोः' इस श्लोक में दश हजार वर्ष तक ही विहार कहा गया है तो वचनों का परस्पर विरोध होने से किस प्रकार से वचनों में अविरोध होगा और किस प्रकार से नित्य विहार सिद्ध होगा ? इस शंका का उत्तर करते हैं कि बालकाण्डीय श्लोक में नक्षत्रमान से ग्यारह हजार वर्ष कहे गये हैं, नक्षत्रमान से दश वर्ष पर सौरमान से एक वर्ष अधिक हो जाता है। अतएव 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च' इस श्लोक में एकादशसहस्र नहीं कहकर 'दशवर्षशतानिच' इस से दश सौ वर्षों का पृथक निर्देश किया है, एकादशसहस्रवर्ष तो रामायण में कहीं भी सुनने में नहीं आते है। 'दशवर्षसहस्राणि' इस उत्तरकाण्डीय श्लोक में दशसहस्र वर्ष का मान सौर वर्षों के अभिप्राय से है। एवं विहार प्रतिपादक श्लोक में भी सौरवर्षों के अभिप्राय से जानना चाहिये, ऐसा करने से न तो पूर्वोक्त वाक्यों का परस्पर में विरोध ही रहता है और न सहस्रवर्ष तक श्रीजानकी जी के साथ श्रीरामजी के वियोग की सम्भावना रहती है।

एवमन्यत्रापि यत्र यत्र रावणं प्रति श्रीसीता वाक्यं श्रीरामं प्रति श्रीकौशल्या वाक्यं, अन्यानिच यानि वाक्यानि प्रमाणे परस्परं विरुद्धानि, तेषामपि सङ्गतिरनयैवरीत्या ज्ञेया । नाक्षत्रमाने मानं वृहद्वशिष्ठसंहितायां - 'मानं विधातुः खलु नित्यमायुः प्रमाण विज्ञानविधौचकार्यम् । गीर्वाणमन्वोरपि मानमेवं पैत्र्येच मानं शशिनः प्रवृत्तम्। षष्ट्यब्दजन्म प्रभवादिकानां फलंच सर्वं गुरुमानतः स्यात् । मासे तदा तत्तपसीन्द्रबन्धोत्वाद्ये लवे वासवतारकायाम् । सौरंच संक्रान्तिवशादिनस्य नाक्षत्रमिन्दोर्भगणभ्रमाच्च' इत्यादि सच विहार एकादशसहस्रवर्ष पर्यन्तमेव सङ्गच्छते 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच । ययुस्तेषां

सुमनसां' इत्यादि पूर्वोक्त वाल्मीकिरामायण वचनात् 'स तया सह वर्षाणाम्' इति रामाश्वमेधीय पूर्वोक्त वचनाच्च ।

इति श्रीगालवाश्रम गाद्यधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्रीमधुराचार्यकृते श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीरामस्य बहुनायिकानायकत्वप्रतिपादनं नाम नवमोल्लासः ॥९॥

इसी प्रकार से अन्य स्थलों पर भी जहाँ-जहाँ वाक्य विरोध प्रतीत होवे - जैसे रावण के प्रति श्रीसीताजी का वाक्य और श्रीरामजी के प्रति श्रीकौशल्यादेवीजी का वाक्य तथा और भी जिन वाक्यों के प्रमाण में परस्पर विरोध सा प्रतीत होता हो, उन सभी वाक्यों की संगति इसी प्रकार से कर लेनी चाहिये । नाक्षत्रमान का प्रमाण वृहद्वशिष्ठ संहिता में है कि प्रमाण विज्ञान की विधि में ब्रह्माजी के आयु का मान, देवता और मनुष्य का मान समझे तथा पितृ सम्बन्धी कार्य में चान्द्रमान से प्रवृत्ति करनी चाहिये । प्रभवादि ६० अब्दों का मान और फल का विचार गुरुमान से करना चाहिये । सूर्य की संक्रान्ति के अनुसार सौर मास होता है, चन्द्रमा के भगणभ्रम से चन्द्रमास होता है" इत्यादि । अतः वह विहार एकादशसहस्रवर्ष तक भया यह सिद्ध है, क्योंकि 'दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानिच' एवं - 'स तया सह वर्षाणाम्' इत्यादि वाल्मीकि रामायण और रामाश्वमेधीय ऐसे ही वाक्य प्रमाण हैं । इति ।

इति श्री रामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु स्वामि पं० श्री रामवल्लभाशरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिधभाषा टीकायां नवमोल्लासः ॥९॥

अथ दशमोल्लासः

ननु अशोकवन विहारमुक्त्वा तदुत्तरमुत्तरकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तक 'दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं कल्याणेन समन्विताम् ।' (वा. उ. स. ४२ श्लो. ३०) इत्यारभ्य 'सौमित्रिस्तु तथेत्युक्त्वा रथमारोप्य मैथिलीम् । प्रययौ शीघ्रतुरगं रामस्याज्ञामनुस्मरन्, (वा. उ. स. ४६ श्लो. १२) इत्यन्तैर्वचनैर्वियोगस्योक्तत्वात्कथं तदुत्तरं वियोगो नोक्त इति चेदत्रोच्यते- 'दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं' इतिसामान्योक्तेः, तत इत्यानन्तर्यस्यानुक्तेश्च दशसहस्रवर्ष विहारोत्तरं वियोगो नास्ति, किन्तु पूर्वमेव प्रकाशभेदेनेयं लीलोक्ता । अतएव दृष्ट्वातु राघवः पत्नीमिति वाक्ये तु भिन्नोपक्रम उपयातस्तस्मिन्नपि प्रकाशे दुःखात्मको वियोगो नास्ति, यतो वाल्मीक्याश्रमगमनं श्रीजानक्यैव दोहदरूपेण याचितम्, यतस्तस्या वनविहारे नगर विहारादप्यधिका प्रीतिरस्ति । इदं च सूचितं सुन्दरकाण्डे हनुमता - 'वनवासरता नित्यमेष्यते वनचारिणी । वनेचराणां सततं नूनं स्पृहयते पुरा' (वा. सु. स. १४ श्लो. ४७) अयोध्याकाण्डे - कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया । भिक्षिण्याः साधुवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः । प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं हि बहुविधं प्रभो । गमनं वनवासस्य कांक्षितं हि त्वया सह । कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव (वा. अ. स. २९ श्लो. १३-१४-१५) तथा 'लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे । वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल' (वा. अ. स. २९ श्लो. ९) इत्यनेन, अत्र वनेचराणामिति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ।

यदि कहो कि अशोकवाटिका के विहार को कहकर उसके बाद उत्तरकाण्ड में 'श्रीराघवजी कल्याणसमन्वित श्रीपत्नी श्रीसीता जी को देखकर' यहाँ से आरम्भ कर 'सुमित्रापुत्र श्री लक्ष्मण जी तो 'तथास्तु, ऐसा कहकर श्रोमैथिली जी को शीघ्र वेगी घोड़ावाले रथ पर बैठाकर श्रीरामजी की आज्ञा का स्मरण करते हुए गये' यहाँ तक के वचनों से वियोग कहा गया है तब क्यों कहते हैं कि विहारोत्तर वियोग नहीं है? तो इसका समाधान यह है कि 'दृष्ट्वातु राघवः पत्नीं' यह सामान्यतया कहा गया है, अनन्तर वाची ततः (तदनन्तर) शब्द तो कहा नहीं गया है, इसलिये दशहजार वर्षीय विहार के बाद वियोग नहीं है किन्तु पूर्व ही प्रकाश भेद से यह लीला हुई यह कह आये हैं। अतएव 'दृष्ट्वा तु राघवः पत्नीं' इस वाक्य में भी 'भिन्न उपक्रम होने पर उपाय से लगाना चाहिये' यह नियम है। अतः इस प्रकाश में भी दुःखात्मक वियोग नहीं है, क्योंकि श्रीवाल्मीकि जी के आश्रम में जाने को श्रीजानकी जी ने दोहद रूप से माँगा था, तथा श्रीजानकी जी को वनविहार में नगर विहार से भी अधिक प्रीति है। यह बात सुन्दरकाण्ड में श्रीहनुमान् जी के वचन से सूचित होती है कि 'श्रीजानकी जी वनवास में रत हैं और वनचारिणी हैं अवश्य आवेंगी, वनचारियों के सहवास की बराबर स्पृहा करती हैं' अयोध्याकाण्ड में तो श्रीजानकीजी ने स्वतः ही श्रीरामजी से कहा है कि 'कन्याभाव में ही मैने पिता जी के घर में वनवास को सुना है, साधुबर्ताववाली भिक्षुकी ने मेरी

माताजी के आगे कहा था कि यह वन में वास करेगी । मैंने भी हे प्रभो ! आप को बहुत बार प्रसन्न किया और इसी बात की प्रार्थना पहले कई बार की है, इसलिये आपके साथ वनवास की आकांक्षा है, हे राघव ! आपका कल्याण हो, मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ, तथा लक्षणज्ञ ब्राह्मणों से पिताजी के घर में ही वनवास को सुनकर बराबर वनवास के लिये उत्साह नित्य ही करती रहती हूँ।' यहाँ 'वनेचराणां' यह सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है।

श्रीरामस्यापि श्रीसीतयासह वनविहारेऽधिका प्रीतिरस्तीत्ययोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमे सर्गे 'दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने । अधिकं पुरवासाच्चमन्ये तव च दर्शनात् । उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलासनम् । मामयोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽद्य त्वया सह, (वा. अ. स. ९५ श्लो. १२,१७) इति । तस्माच्छ्रीरामोपि तया सह विहारार्थं वने जगाम । इदं च विस्तरेणाग्रे प्रतिपादयिष्यते । अतः श्रीसीतया श्रीरामेण सह वनविहार एव दोहदरूपेण याचितः । यदि सर्वथा श्रीरामेण सह वियोग एवस्यात्तदा तस्या अभिलाष विषय एव न स्यात् । अत एव 'यज्ञे-यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनीभवत् । दशवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत्' इत्येतद्वचनं कलाप्रकाश भेद विवक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यमिति पूर्वमुक्तमेव ।

श्रीरामजी की भी श्रीसीताजी के साथ वनविहार करने में अधिक प्रीति है यह अयोध्याकाण्ड के ९५ सर्ग में प्रतिपादित है कि 'हे शोभने ! श्रीचित्रकूट और मन्दाकिनी का दर्शन पुरवास से भी अधिक सुखकर है, क्योंकि आप के दर्शन होने से आपके साथ यहाँ चित्रकूट में त्रिकाल स्नान करते और मधु-मूल-फलों को खाते हुए न अयोध्या के लिये और न राज्य के लिये मैं स्पृहा करूँगा।' इसलिये श्रीरामजी भी श्रीसीता जी के साथ विहार करने के लिये वन में गये थे। यह विषय आगे चलकर विस्तार से प्रतिपादन करूँगा । अतः श्रीसीता जी ने श्रीराम जी के साथ वनविहार ही को दोहद रूप से माँगा । यदि सर्वथा श्रीरामजी के साथ वियोग ही होता तब तो श्रीसीताजी के अभिलाष का विषय ही न होता । अतएव 'यज्ञे-यज्ञे च, यह वचन कलाभेद प्रकाशभेद की विवक्षा से कहा गया यह जानना चाहिये, यह बात पहले ही कह चुके हैं।

एवंप्रशासतस्तस्य राघवस्यमहेश्वरि । अत्यया दशसाहस्रं रममाणस्य सीतयेति पद्मपुराण वचनेन दशसहस्रवर्षपर्यन्तं सीतयासह राघवस्य रममाणत्वोक्त्वापि तावत्पर्यन्तं विहारः । 'यज्ञे-यज्ञे' इति श्लोक व्याख्यान्तरेणापि एतावत्काल पर्यन्तं सीतयासहावस्थितिरितिगम्यते । तद्व्याख्याच यज्ञे-यज्ञे इति सीता काञ्चनी अभवदिति सीतैव वावातादि स्थाने काञ्चनीरूपेणात्म लोकेभ्योदर्शयामास । यतोश्वमेधेचतस्रः पत्न्यउक्ताः वावाता परिवित्तिः पालकली महिषीति, तत्रधर्म पत्नित्वात् सीताया महिषी स्थाने सत्वेपि, अन्यासामपेक्षितत्वादन्यासां काञ्चनीत्वम् । यदि काञ्चनी सीतां कृत्वा वाजिमेधानथाकरोदित्यर्थोभविष्यत्तदाकाञ्चनीमकरोदित्येवावदिष्यत्तस्मादेवंगम्यते ।

हे माहेश्वरि, इस प्रकार प्रजा शासन करते हुए और श्री सीता जी के साथ विहार करते हुए श्रीरामजी को दश हजार वर्ष बीत गये, इस पद्म पुराण के वचन से भी दश हजार वर्ष तक विहार करना सिद्ध होता है, "यज्ञे-यज्ञे" इस श्लोक की द्वितीय व्याख्या से भी दश हजार वर्ष तक श्री सीताजी के साथ अवस्थिति रही यह निश्चित होता है। इस श्लोक की व्याख्या यह है कि यज्ञ-यज्ञ में अर्थात् प्रति यज्ञ में श्रीसीताजी सुवर्ण की हुई, इस अर्थ से श्रीसीताजी ही वावातादि पत्नियों के स्थान में कांचनी रूप से अपने जनों को दिखलाई, क्योंकि अश्वमेध यज्ञ में चार पत्नियाँ की गई हैं अर्थान् वावाता, परिवित्ती पालकलि, और महिषी, होती हैं, उसमें धर्म पत्नी होने से श्रीसीताजी महिषी स्थान पर रहीं, तथापि अन्य पत्नियों की भी अपेक्षा होने से श्री सीताजी अन्यों के स्थान पर कांचनी रूप से विराजी । यदि कांचनी सीता के द्वारा अश्वमेध यज्ञ को रामजी ने किया यही अर्थ होता तब तो "कांचनीं अकरोत्" ऐसा पद मूल में रखते, परञ्च ऐसा नहीं रखा, इससे उपयुक्त व्याख्या संगत प्रतीत होती है। कृताभिषेका महिषी परिवृत्तिरुपेक्षिता, वावाता भोगिनी पात्र प्रदा पालाकलि मता ।' अभिषिक्ता को महिषी, उपेक्षिता को परिवित्ति, भोगिनी को वावाता और पात्रप्रदा को पालाकली कहते हैं।

यज्ञे-यज्ञे इति वीप्सा श्रवणेन प्रतियज्ञं यज्ञारम्भे सीता अशोक वनिकास्थैव काञ्चनी भवति, वावातादि स्थाने यज्ञ समाप्तौ तु नित्य विलासिन्या अशोक वनस्थया सीतया एकी भवति, पुनर्यज्ञारम्भे सीता काञ्चनी भवति, यज्ञ समाप्तौ सीतैकी भवति, तस्याः 'हेमविम्वनिभा सौम्य' इत्यनेन माहेश्वर टीका पुस्तक वचनेन हेमविम्बनिभत्वं स्पष्टमेव लङ्कायामुक्तम् । एवं सर्वयज्ञेषु महिषीस्थाने तु प्रकाशभेदेन स्वयमेव भवति । एवं स्थिते या राज्य परिपालन वाल्मीक्याश्रम गमनादिलीला सा प्रकाशान्तरेण, मुखरूपेण तु विहार एव । तस्माद्वाल्मीक्याश्रमे या रामेण लक्ष्मण द्वारा निर्वासिता सा प्रकाशान्तरेणैव 'नहि हातुमियं शक्या कीर्तिरात्मवता यथा' (वा. यु. स. ११८ श्लो० २१) इति वचनात् । 'अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा' (वा. यु. ११८ श्लो० २०) इत्यत्राविनाभाव सम्बन्ध प्रतीत्या तथैवावगमाच्च ।

यज्ञे-यज्ञे, यहाँ पर जो वीप्सा (दो बार कहना) का श्रवण होने से प्रति यज्ञ के आरम्भ में श्रीसीताजी अशोक वन में स्थित रहते ही वावातादि के स्थान में कञ्चन की हो जाती थीं और यज्ञ समाप्ति में नित्य विलासिनी, अशोक वन में स्थिता श्रीसीता जी से एकीभाव को प्राप्त हो जाती थीं । फिर भी यज्ञ के यारम्भ में श्री सीताजी कञ्चन की हो जाती थीं और यज्ञ समाप्ति पर पुनः सीताजी में एकीभाव को प्राप्त हो जाती थीं 'हे सौम्य ! श्री सीताजी स्वर्ण बिम्ब के समान हैं, इस माहेश्वरी टीका पुस्तकस्थ वचन से स्वर्ण बिम्ब सदृश होना लंका में स्पष्ट ही कहा गया है । एवं सब यज्ञों में महिषी के स्थान में तो प्रकाश भेद से अपने आप ही हो जाती हैं, ऐसी स्थिति में जो राज्य परिपालन, वाल्मीकि जी के आश्रम में जाना, आदि जो लीलायें हुईं वे सब प्रकाशान्तर से हैं, मुख्य रूप से तो विहार ही हुआ, इसलिये श्रीवाल्मीकि जी के आश्रम में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी के

द्वारा जिनका निर्वासन किया वह प्रकाशान्तर से ही किया क्योंकि जैसे कोई आत्मवाला (जितेन्द्रिय) पुरुष को कीर्ति न त्याग सके उसी प्रकार से इनको मैं त्याग नहीं सकता, इस वचन से और 'सूर्य से प्रभा की भाँति श्रीसीताजी हम से अनन्या हैं, यहाँ पर अविनाभाव सम्बन्ध का अवगमक (बोधक) वचन होने से सिद्ध होता है।

जानकीविलासादावपि 'लोक दृष्ट्याप्रिया त्यक्ता नेत्र दृष्ट्या मयाङ्गना । हृत्पद्मे निहिता गाढं मेधया गृहवर्तिनी, इति हृत्पद्म हृत्पद्म सदने निगूढस्थान इत्यर्थः । हृत्पद्मे मनसीति व्याख्यायां तु गुहवर्तिनीति न सङ्गच्छते ।

जानकी विलासादिक में भी 'लोक दृष्टि से प्रियाजी का मैंने त्याग किया है किन्तु वास्तव में त्याग नहीं किया, प्रत्युत हृदयरूपी भवन में गाढतया छिपा रक्खी हैं, और बुद्धि से गृहवर्तिनी हैं' यदि हृत्पद्म का अर्थ मन किया जायगा तो 'गृहवर्तिनी, पद की संगति नहीं होगी ।

अस्मिन्प्रकरणेऽयं निष्कर्षः पञ्चदशवर्षपर्यन्तं लोकदृष्ट्या श्रीरामेण श्रीसीताया विरहस्तत्त्वतो विरहो नास्ति । एवं रावण हरणावसरेऽपि, तदुत्तरं तु न वा लोकदृष्ट्या विरहः किन्तु नित्यसंयोग एव वाल्मीकेराश्रमे विवासितायास्तस्याः शोकापनयनार्थंश्रीरामोऽसकृदाविर्बभूवेति जानकी विलास उक्तम् । एतदभिप्रायेणैव हरिवंशे चतुर्दशवर्ष पर्यन्तं श्रीरामस्य वनवासः श्रूयते, श्रीजानक्यापि तावत्यर्यन्तमेवावस्थिति रामायणोक्त लीलाकमादग्रे प्रतिपादयिष्यते । श्रीजानकी विलासेऽपि 'रामो हि न भवेज्जातु सीता यत्र न विद्यते । सीता नैव भवेत्साहि यत्र रामो न दीव्यति । सीता रामं विना नैव नैव सीतां विना हरिः । जानकी रामयोरेषः सम्बन्धः शाश्वतो मतः' इत्यनेन सीता साहित्यमुक्तम् । अतएव रामायणे प्राच्यपुस्तके 'रहःस्था भुज्यते लक्ष्मीर्मर्त्यलोके तु मानवैः, इत्युक्तम् । अस्यार्थः - मानवैः भवद्भिः रहःस्था लक्ष्मीः भुज्यते इति, बहुवचनं तु पूज्यत्वादेव । दशमस्कन्धे सूतोक्तौ 'वर्णितं व्यास पुत्रैः, (भा. द. ८५।५९) इतिवत् । यद्वा प्रकाशानां बहुत्वाद्बहुत्वं ज्ञेयम् । तदुत्तरं तु लोकैरपि संयोग एवानुभूतः । अतएव यत्र यत्र गमनादिकं श्रूयते तत्र प्रकाश भेदेन युग्मीभूय गमनं ज्ञेयम् । अयं च संयोगः प्रकट प्रकाश उक्तोऽप्रकट प्रकाशेत्वस्त्येवेति बोध्यम । अतएव रामाश्वमेधे जैमिनिभारतादौ च स्पष्टत एवायं प्रतिपादितः ।

इति गालवाश्रम गाद्यधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्री मधुराचार्यकृते श्रीरामतत्वप्रकाशे वियोग-वाक्यसमाधानं नाम दशमोल्लासः ॥१०॥

इस प्रकरण में यह निष्कर्ष है कि पन्द्रह वर्ष तक लौकिकी दृष्टि से श्रीरामजी के साथ श्रीसीताजी का विरह रहा, वास्तव में विरह नहीं था । इसी प्रकार रावण हरण के समय में भी जानना उसके

बाद लोक दृष्टि से भी वियोग नहीं हुआ किन्तु नित्य संयोग ही रहा । वाल्मीकि महर्षि के आश्रम में गई हुईं श्रीसीताजी के शोक को दूर करने के लिये श्रीरामजी बारम्बार प्रगट हुए, यह जानकी विलास नामक ग्रन्थ में लिखा है । इसी अभिप्राय से हरिवंश में चौदह वर्ष तक श्रीरामजी का वनवास सुना जाता है, श्रीजानकी जी की भी तबतक अवस्थिति रही यह बात रामायणोक्त लीला क्रम से आगे प्रतिपादन करेंगे । श्री जानकी विलास में भी "जहाँ पर श्रीसीता जी नहीं हैं वहाँ श्रीरामजी कभी नहीं रहेंगे और जहाँ श्रीरामजी नही होंगे वहाँ श्रीसीताजी कभी नहीं रहेंगीं, श्रीरामजी के बिना सीताजी और श्रीसीताजी के बिना रामजी की सत्ता ही नहीं है, श्री जानकी राघव का यह नित्यसम्बन्ध है, इस वचन से श्रीरामजी का नित्य ही श्रीसीतासंयोग कहा गया है । अतएव रामायण के प्राच्य पुस्तक में 'रहःस्थाभुज्यते लक्ष्मीः- अर्थात् मर्त्य लोक में आप एकान्त में स्थित लक्ष्मी का उपभोग करते हैं, 'मानवैः' यह तृतीया के बहुवचन से श्रीरामजी बोधित हैं बहुवचन यहाँ पूज्यता से दिया गया है, जैसे दशम स्कन्ध के सूत के वाक्य में 'वर्णितंव्यास पुत्रैः यहाँ पर व्यासपुत्र में एक होते हुऐ भी बहुवचन दिया गया है । इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये । अथवा प्रकाशों में बहुत्व होने से बहुवचन जानना चाहिये । उसके बाद तो सभी लोगों ने संयोग का ही अनुभव किया, अतएव जहाँ कहीं गमनादिक सुना गया वहाँ प्रकाशभेद से युग्म होकर गये हैं यह जानना, वह संयोग प्रकट प्रकाश में कहा गया है, अप्रकट प्रकाश में तो संयोग है ही, अतएव रामाश्वमेध और महाभारतादिकों में स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादन किया गया है।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्यताभिधभाषाटीकायां दशमोल्लासः ॥१०॥

अथैकादशोल्लासः

अथ श्रीसीताराम लीलायां वर्षगणनाक्रमः --

प्रथमतः श्रीराम जन्मोत्तरं किञ्चिदधिक दशवर्ष पर्यन्त व्रजेस्थितिस्ततः पुनरयोध्यायां गमनम् ततः सौर मानेन कतिपयदिनाधिक नवमासाधिक द्वादश वार्षिकस्य विश्वामित्रेण सार्धम् यज्ञरक्षार्थं गमनम् । अत्र नाक्षत्रमानेन तु कतिपयदिनोत्तर मासद्वयाधिक चतुर्दशवर्षाणिभवन्ति, ततोमासमध्ये यज्ञरक्षा विवाहश्च, अतः विद्यमाने पञ्चदशे वर्षे विवाहः ततोनाक्षत्रमानेन कतिपयमासाधिक द्वादशवर्ष पर्यन्तं श्रीसीतयासह विहारः । एवं सार्धषड्विंशति वर्षाणिनाक्षत्रमानेनभवन्ति, सौरमानेन कतिपयदिनाधिक चतुर्विंशति वर्षाण्येव । ततोविवासनं ततः सौर मानेन चतुर्दश वर्षपर्यन्तं वनवासः, तन्मध्ये दशवर्ष पर्यन्तमृषीणामाश्रमे स्थितिः, पञ्चवट्यां वर्ष त्रयंस्थितिः ततो माघे रावणकृतं मायासीता हरणं तदुत्तरेवर्षे रावण वधः, ततः सीतयासहायोध्या गमनम् ।

श्रीसीतारामजी की लीला में वर्षों की गणना का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम श्रीराम जन्म के बाद कुछ अधिक दशवर्ष तक व्रज में स्थिति रही उसके बाद अयोध्या में आये, तब सौरमान से कुछ दिन अधिक बारह वर्ष नव महिना की अवस्था में श्रीरामजी विश्वामित्रजी के साथ यज्ञ रक्षा के लिये गये, तब नक्षत्रमान में कुछ दिन अधिक चौदहवर्ष दो महिना के थे, इसके बाद दो महीना के भीतर यज्ञ की रक्षा और विवाह हुआ । अतः वर्तमान पन्द्रहवें वर्ष में विवाह हुआ । ततः नक्षत्रमान से कुछ महिना अधिक बारहवर्ष तक श्रीसीताजी के साथ विहार किये, इस प्रकार नाक्षत्रमान से साढ़े छब्बीस वर्ष होते हैं और सौरमान से कुछ दिन अधिक चौबीस वर्ष होते हैं। बाद में वनयात्रा हुई, पुनः सौरमान से चौदहवर्ष तक वन में वास किया, इन्हीं चौदह वर्षों के मध्य में दश वर्ष तक ऋषियों के आश्रम में रहे, तीन वर्ष तक पञ्चवटी में रहे, बाद को माघ में रावण कृत माया सीता का हरण हुआ, तदुत्तर अग्रिम वर्ष में रावण का वध हुआ, बाद को श्रीसीताजी के साथ अयोध्या में आये ।

वनवासीयवर्षाणां नाक्षत्राणि द्वाविंशतिदिनोत्तरमासचतुष्टाधिकपञ्चदश वर्षाणि भवन्ति । एतेषां योगे द्वाविंशतिदिनोत्तर मास दशाधिकैक चत्वारिंशद्वर्षाणि भवन्ति । तथा च नाक्षत्रमानीयविद्यमान द्विचत्वारिंशद्वर्षीयवैशाखे राज्याभिषेकः' तत्र प्रमाणवचनानि, तेषां सङ्गतिश्च निरूप्यते-तत्रारण्यकाण्डे बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः (वा० आ० स० ३८ श्लो० ६) इति मारीचोक्त दशरथवाक्ये सौरमानेन द्वादशवर्षाण्यतीतानि, त्रयोदशवर्षस्यापूर्णत्वान्न गणना ।

वनवास के वर्षों की गणना करने से नक्षत्र मान से २२ दिन ४ चार महीना पन्द्रह वर्ष होते हैं। इन सब वर्षों का योगफल बाइस दिन दश महीना एकतालीस वर्ष होते हैं, और नक्षत्र मान से वर्तमान बयालीसवें वर्ष के वैशाख में श्रीरामजी का राज्याभिषेक भया। अब इन सब के प्रमाण के वचन और उनकी संगति का निरूपण करता हूँ - आरण्य काण्ड में 'रामजी बालक और बारह वर्ष के हैं' इस मारीचोक्त श्रीदशरथजी के वाक्य में सौरमान से बारह वर्ष व्यतीत हो गये और तेरहवाँ वर्ष अपूर्ण होने से गणना नहीं किया गया।

ननु सौरमानेन गताभिप्रायेण च कथनं किमर्थमतिचेत् - उच्यते, विश्वामित्रायातिबालत्वद्योतनाथम् । अस्मिन्नेव विषये नाक्षत्रमानेन तु कतिपयदिनाधिक मासत्रयोत्तराणि चतुर्दशवर्षाणि भवन्ति । तत्र चतुर्दश वर्षाणि गतानि विद्यमानं पञ्चदशवर्षम्, एतदभिप्रायेणैव बालकाण्डे दशरथ वाक्यं 'ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः । न युद्ध योग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः' (वा. बा. स. २० श्लो. २) इति वाक्य ऊनषोडशेत्युक्तं पञ्चदशस्य विद्यमानत्वात् । तेनोभयोर्वाक्ययोर्मानभेदेनैकार्थता युक्ता । ततो यज्ञरक्षा विवाहादिकं मासमध्ये, तथैव रामायणतः प्रतीतेः । अत एवाग्निवेशरामायणे विवाह समये श्रीरामस्य पञ्चदशवार्षिकत्वेन कथनं, तदप्येतदभिप्रायेणैवेतिज्ञेयम् । स च विवाहः फाल्गुने मासि कृष्णद्वितीयायां पूर्वाफाल्गुन्यामुत्तराफाल्गुन्यां वा जात इति गम्यते । अतएव बालकाण्डे जनक वाक्यं - 'मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो । फाल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु, (वा. बा. स. ७१ श्लो. २४) इति । तत्रैवाग्रे 'उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फाल्गुनीभ्यां मनीषिणः । वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः. (वा. बा. स. ७२ श्लो. १३) इति च, अत्र प्रजापति दैवत्या द्वितीया तिथिः, भगदैवत्यं पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रम् । क्वचित्तु भगदैवत्योत्तराफाल्गुनीति प्रतिपादितम् ।

यदि कहो कि यहाँ पर सौर मान से और पूर्वोक्ताभिप्राय से क्यों कहा गया ? तो इसका तात्पर्य यह है कि श्रीविश्वामित्रजी के लिये श्रीरामजी का अर्थात बालभाव प्रकाशन करके के लिय सौरमान से कहा गया, इसी विषय में यदि नाक्षत्रमान से गणना करें तो कुछ दिन अधिक तीनमास और चौदह वर्ष होते हैं, तो चौदहवर्ष तो गत ही हो चुके, पन्द्रहवाँ वर्तमान है । इसी अभिप्राय से बालकाण्ड में श्रीदशरथजी का वाक्य है कि 'राजीवलोचन श्रीरामजी कुछ कम सोलह वर्ष के हैं, राक्षसों के साथ इनकी युद्ध की योग्यता नहीं है, इस वाक्य से ऊनषोडशवर्ष कहा गया है, क्योंकि पन्द्रहों वर्ष वर्तमान था । इसलिये दोनों वाक्यों के मतभेद से एकवाक्यता होना युक्त ही है । उसके बाद यज्ञ की रक्षा और विवाह एक मास के भीतर हो गया, यही बात श्रीरामायणजी से भी प्रतीत होती है । अतएव अग्निवेश रामायण में विवाह के समय जो श्रीरामजी को पन्द्रह वर्ष का होना कहा गया है सो इसी अभिप्राय से समझना चाहिये । और वह विवाह भी फाल्गुन कृष्णा द्वितीया पूर्वाफाल्गुनी अथवा उत्तराफाल्गुनी में भया ऐसा प्रतीत होता है । अतएव बालकाण्ड में

श्रीजनकजी का वचन है कि हे महाबाहो ! आज मघा नक्षत्र है और तीसरे दिन श्रेष्ठ फाल्गुनी नक्षत्र है उसी में विवाह की विधि को कीजिये।' आगे भी 'हे ब्रह्मन् ! उत्तर दिवस में फाल्गुनी नक्षत्रों से वैवाहिक विधि को मनीषी पुरुष प्रशंसित करते हैं जिनके भग और प्रजापति देवता हैं, यहाँ पर प्रजापति देवता वाली द्वितीया तिथि है और भगदेवतावाला पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र है । कहीं पर तो भगदेवतावाला उत्तरा फाल्गुनी का प्रतिपादन किया है।

विवाह वृन्दावने 'प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा न सुखं सिषेवे, इत्यत्रभगर्क्षशब्देन पूर्वाफाल्गुनी गृहीता । अतएव तत्र पूर्वाफाल्गुन्यां वैवाहिकत्वं निषिद्धं, उत्तराफाल्गुन्यास्तु स्वीकृतम् । अयं द्वितीयाफाल्गुनीयोगः फाल्गुनकृष्णे एव समायाति । यद्यपि भाद्रपद शुक्ल द्वितीयायामप्ययं योगः सम्भवति, अथापि चातुर्मास्ये विवाहस्य निषिद्धत्वाद्विवाहयोग्यो न भवति ।

विवाह वृन्दावन नामक ज्योतिष ग्रन्थ में लिखा है कि 'महर्षि श्रीवाल्मीकिजी ने भगदेवताक नक्षत्र को शुभ कहा है, परंच उसमें श्रीसीताजी का विवाह भया तो उनको सुख नहीं मिला' यहाँ भगदेवताक शब्द से पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र लिया गया है । अतएव वहाँ पूर्वाफाल्गुनी का वैवाहिक नक्षत्र होना निषिद्ध माना है और उत्तराफाल्गुनी को स्वीकार किया है । यह द्वितीया और फाल्गुनीनक्षत्र का योग फाल्गुन कृष्णपक्ष में ही आता है, यद्यपि भाद्रपदशुक्लपक्ष की द्वितीया को भी यह योग सम्भव है परञ्च चातुर्मास्य में विवाह का निषेध किया गया है अतः भाद्र पद महीना विवाह के योग्य नहीं है।

ततो नाक्षत्र मानेन कतिपयमासाधिकद्वादशवर्षपर्यन्तमयोध्यायामवस्थानम् । अत एवोक्तं श्रीजानक्या रावणं प्रति 'उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने । भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी । तत्र त्रयोदशे वर्षे राजाऽमन्त्रयत प्रभुः । अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः' (वा० आ० स० ४७ श्लो० ४-५) इति । तथा च पूर्ववर्षाणामेतदद्योध्यावर्षाणां च योगे नाक्षत्राणि सार्द्धषड्विंशतिवर्षाणि भवन्ति । तेन 'मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः । अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते' (वा० आ० स० ४७ श्लो० १०) इति वाक्ये पञ्चविंशक इत्युक्तिः सौरमानेन, पञ्चविंशतिवर्षस्य विद्यवानत्वेनोक्तम् । अतीतानि तु कतिपयदिनाधिकानि चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति । ननु सौरमानेन विद्यमानाभिप्रायेण च रावणं प्रति कथनं किमर्थमितिचेत्-उच्यते-तारुण्यारम्भे एव राज्यं त्यक्तमिति द्योतनार्थं तथोक्तमिति ज्ञेयम् । अष्टादशवर्षाणि श्रीजानक्यास्तु नाक्षत्रमानेन । एतेषु सर्वेषु वनवासीयानि वर्षाणि योजितानि चेत् श्रीजानक्या राज्यप्राप्तौ कतिपयमासाधिकत्रयस्त्रिंशद्वर्षाणि वर्तमानाभिप्रायेणोक्तानि । श्रीरामं प्रति श्रीकौशल्या वाक्येऽपि 'दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव पुत्रक । आसितानि प्रकांक्षन्त्या मम दुःखपरिक्षयम्' (वा० अ० स० २० श्लो० ४५) इत्यत्रापि सप्तदशं वर्ष विद्यमानम् कतिपयमासाधिक पोडषवर्षाणि गतानीति ।

फिर नक्षत्रमान से कुछ मास अधिक बारह वर्ष तक अयोध्या में रहे, अतएव श्रीजानकीजी ने रावण के प्रति कहा है कि "इक्ष्वाकु महाराज के भवन में द्वादशवर्ष तक वास करके सर्व मनोरथों से सम्पन्न और मानुष भोगों को भोगती हुई रही, तेरहवें वर्ष में राजमन्त्रियों के सहित महाराज श्रीचक्रवर्तीजी ने रामजी के अभिषेक का विचार किया"। तब पूर्व वर्षों का और इन अयोध्या में वास के वर्षों का योग करने पर साढ़े छब्बीस वर्ष नक्षत्रमान से होते है, अतः "महा तेजस्वी हमारे श्रीपतिदेव पच्चीस वर्ष की अवस्थावाले हैं और अठारह वर्ष हमारे जन्म के गिने जाते हैं" इस वाक्य में श्रीराम जी की अवस्था पञ्च्चीस वर्ष की जो कही गई है सो मौरमान से पच्चीसवां वर्ष वर्तमान था इसलिये कहा गया, वास्तव में कुछ दिन अधिक चौबीस वर्ष व्यतीत हुए थे। यदि कहो कि सौर मान से वर्तमान वर्ष के अभिप्राय से श्रीसीताजी ने रावण से क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि युवावस्था के आरम्भ में ही श्रीरामजी ने राज्य को त्याग दिया इस बात को बताने के लिये ही कहा था । तथा श्रीजानकीजी की अठारह वर्ष की अवस्था नक्षत्र मान से है, इन वर्षों में वनवास के वर्षों को जोड़ देते हैं तो श्रोजानकीजी के राज्य प्राप्ति के समय कुछ महीना अधिक तेतीसवां वर्ष वर्तमान था इसी अभिप्राय से समझना । श्रीरामजी के प्रति श्रीकौशल्याजी का जो यह वाक्य है कि हे पुत्र, आपका आविर्भाव हुए सतरह वर्ष बीत गये और मैं दुख के नाश की आकांक्षा करती हूँ, यहाँ पर भी सतरह वर्ष वर्तमान वर्ष के अभिप्राय से हैं, क्योंकि उस समय कुछ मास अधिक सोलह वर्ष व्यतीत हो गये थे सतरहवां वर्ष वर्तमान था ।

तथा च कतिपय मासाधिक षोडषवर्षाणि व्रजवासीयानि कतिपयमासाधिक दश वर्षाणि तानि मिलित्वा सार्धषड्विंशति वर्षाण्येवभवन्ति । तथा च 'ममभर्तामहातेजो वयसापञ्चविंशकः' इति वाक्यं पूर्वोक्तं कौशल्या वाक्यं च मान भेदेनाविरूद्धं ज्ञेयम् । अग्निवेश्य रामायणादावपि सप्तविंशति वर्षे यो राज्याभिषेकोद्यमः प्रतिपादितः सोप्येवमेव वर्त्तमानाभिप्रायेणज्ञेयः, ततः सौरमानेन चतुर्दशवर्ष पर्यन्तंवनवासः यतश्चैत्र शुक्लदशम्यांपुष्येचगमनम् ॥ ततः पूर्णेचतुर्दश वर्षे वैशाखशुक्ल पञ्चम्यां - भरद्वाजाश्रमे आगमनम् तेनेदं गम्यते, यच्चैत्रशुक्ल तृतीयायं मेषसंक्रमणं वनादागमन समये वन गमन समये तस्यदशम्यामष्टावंशाभवंति, ते चांशा वैशाख शुक्ल पञ्चम्यां चतुर्दशवर्षे भवन्ति, यतः तस्मिन्वर्षे मेष संक्रमणंवैशाखे कृष्ण त्रयोदश्यां जातं, तेनाष्टावंशा वैशाखशुक्ल पञ्चम्यां भवन्ति ।

तथाच, कुछ मास अधिक सोलह वर्ष और व्रज के वास वाले भी कुछ मास अधिक दशवर्ष ये सब मिलाकर साढ़े छब्बीस वर्ष हो जाते हैं। अतः, महातेजस्वी मेरे पतिदेव जी पच्चीस वर्ष की अवस्था वाले थे' यह श्रीमैथिली जी का वाक्य और पूर्वोक्त श्री कौशल्याजी का वाक्य ये दोनों ही मानभेद से विरोध रहित हैं। अग्निवेश्य रामायण आदि में भी सत्ताईसवें वर्ष में जो राज्याभिषेक का उद्योग प्रतिपादन किया गया है वह भी इसी प्रकार से वर्तमान काल के अभिप्राय से समझना चाहिये इसके बाद सौर मान से १४ चौदह वर्ष तक वन में वास किया क्योंकि चैत्र शुक्ल दशमी पुष्य नक्षत्र

में श्रीअयोध्याजी से गये और पूर्ण चौदहवें वर्ष में वैशाख शुक्ल पञ्चमी को श्रीभरद्वाजजी के आश्रम में लौटकर आये, उसी से यह बात ज्ञात होती है, दूसरी एक युक्ति यह भी है कि चैत्र शुक्ल तृतीया में मेष की सक्रान्ति हुई थी और वन से लौटते समय तथा जाते समय उस मेष संक्रान्ति के आठ अंश होते हैं, वे आठ अंश लौटते समय वैशाख शुक्ल पंचमी में चौदह वर्ष पर पूर्ण होते हैं, क्योंकि उस वर्ष मेष संक्रान्ति वैशाख कृष्ण त्रयोदशी को हुई थी अतः आठ अंश वैशाख शुक्ल पंचमी में होते हैं।

अत्र गमकम्-यत्राधिमासस्सन्निहितोऽतीतस्तत्र संक्रमणं शुक्लपक्षारम्भे एव भवति, यस्मिन्वर्षे जायमानोऽधिमासस्तस्मिन् वर्षे संक्रमणं कृष्णपक्षान्ते भवति । प्रकृते तु यदा वन गमनं तदाधिमासोतीत्य स्थितोधिमासः, सः प्रायेण वर्षत्रये पतति । अतः पंचदशे वर्षेधिमासस्य जायमानत्वात्कृष्णपक्षान्ते मेषसंक्रान्तिस्तस्माद्वनवासीयानि चतुर्दशवर्षाणि सौरमानेन ज्ञेयानि । अत्र नक्षत्र मानेन तु द्वाविंशतिदिनोत्तरमासचतुष्टयाधिक पञ्चदशवर्षाणि भवन्ति । पूर्वोक्त वर्षेष्विमानि वर्षाणि योजितानि चेत्किञ्चिन्न्यूनेकादशमासाधिकैकचत्वारिंशद्वर्षाणि भवन्ति । अतएवोक्तमग्निवेश्य रामायणे 'राज्यप्राप्तिदिने समारघुपतेरासन् द्वयेनाधिकाश्चत्वारिंशदथो विदेह दुहितुस्त्रिशत्त्रयेणाधिकाः' इति । अत्र श्रीसीतायास्त्वतीताभिप्रायेण, श्रीरामस्य वर्तमानाभि प्रायेण ज्ञेयम् ।

यहाँ प्रमाण यह है कि जब अधिक मास समीप में ही व्यतीत होता है तब प्रायः संक्रान्ति शुक्ल पक्ष के आरम्भ में ही होती है और जिस वर्ष में अधिक मास आने वाला होता है उस वर्ष में संक्रान्ति कृष्ण पक्ष के अन्त में होती है, तथा इस प्रकरण में तो जिस समय वन को गमन हुआ था उस समय अधिक मास व्यतीत हो गया था, वह अधिक मास प्रायः करके तीसरे वर्ष में आता है। अतः उस हिसाब से पंद्रहवें वर्ष में अधिक मास पुनः होने से कृष्ण पक्ष के अन्त में मेष संक्रान्ति होगी, इसलिये वनवास के चौदह वर्ष सौर मान से समझना । यहाँ पर नाक्षत्र मान से २२ दिन ४ महीना १५ वर्ष होंगे । पूर्वोक्त वर्षों में इन सबको मिलाने से कुछ कमती ११ महीना ४१ वर्ष होते हैं। अतएव अग्निवेश्य रामायण में 'राज्य प्राप्ति के दिन श्रीराम जी ४२ वर्ष के थे और श्रीविदेहराजकुमारी जी की ३३ वर्ष की अवस्था थी । यहाँ श्रीजानकी जी के वर्ष तो व्यतीत वर्षों के अभिप्राय से हैं और श्रीरामजी के वर्तमान के अभिप्राय से हैं।

ततश्चैत्रशुक्लद्वादश्यां श्रीजानक्या वाल्मीक्याश्रमे गमनम्, तत्र पञ्चदशवर्षपर्यन्तं प्रकाशान्तरेणावस्थितिः, अयोध्यायामप्यवस्थितिः अतएवोभयत्र स्थितं मेलयित्वैवाग्निवेश्यरामायण उक्तम् तद्यथा 'आनीता रुदिता निवार्य सुनिना वाल्मीकिना स्वाश्रमे ह्याषाढे नवमी दिने सुतयुगं मा सूत वीरप्रसूः । षट् षष्ट्या च समं शतानि च नववर्षाणि तत्रावसच्छ्रीरामस्य ततः समर्प्य तनयौ सीता प्रविष्टामहीम्' इत्यस्यायमर्थः - सा वीरप्रसूः रामस्य तत्र रामस्य राज्ये - अयोध्यायां वाल्मीक्याश्रमे च अवसत् उभयोरपि राम

राज्यत्वाविशेषात्तत्रेत्यनेनोद्देशः कृतः । अत्र षट् षष्ट्या चेत्यस्य यथाश्रुतार्थं व्याख्यानेऽष्टौ वर्षाण्यधिकानि भवन्ति, अतएवं व्याख्येयं 'षट् शतानि प्रत्येकं षष्ट्या समं ते नवशतं षष्टिवर्षाणि भवन्ति । पूर्वतनं राज्यप्राप्तीयं द्विचत्वारिंशं विद्यमानं, अत्राप्येकं विद्यमानं, अग्रेऽयुतसंख्यायामप्येकं विद्यमानं, तेन चैकादशसहस्रीयसंख्या समा भवति । किञ्च राज्यप्राप्त्युत्तरं विवासनात्पूर्वतन वर्षमध्ये तत्संख्यायामन्तर्भूतम् । अन्यथा तद्वर्षस्य गणनायामाधिक्यं स्यात् । 'नववर्षाणि' इत्यस्यार्थस्तु नवानि सुन्दराणि मङ्गलानीत्यर्थः श्रीरामस्य नित्यसंयोगेन वर्षाणां मङ्गलत्वम् ।

इस के बाद चैत्र शुक्ल दशमी में श्रीजानकीजी का वाल्मीकि जी के आश्रम में जाना और वहाँ पन्द्रह वर्ष तक प्रकाशान्तर रूप से रहना तथा श्रीअयोध्या में भी रहना, अतएव दोनों स्थान में स्थित वर्षों का मेल कर के अग्निवेश्य रामायण में कहा है कि "वीर पुत्रों को प्रकट करने वाली मैथिलीजी को महर्षि श्री वाल्मीकिजी अपने आश्रम में ले आये और रुदन करने से निवारण किये, तब श्रीमैथिलीजी ने आषाढ की नवमी तिथि में दो पुत्रों को उत्पन्न किये और ६६ वर्षों के सहित नव सौ वर्षों तक अर्थात् ६६६ वर्ष तक श्रीरामजी के साथ वास किया और बाद को श्रीसीताजी अपने दोनों पुत्रों को श्रीरामजी के लिये समर्पण कर के पृथ्वी में प्रविष्ट हो गईं । तात्पर्य यह है कि वह वीर जननी श्रीजानकीजी ने श्रीरामजी के राज्य में अर्थात् श्रीअयोध्या जी और श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में वास किया, क्योंकि अयोध्या और श्रीवाल्मीकिजी का आश्रम दोनों ही श्रीराम राज्य में अविशेष (अन्तर रहित) हैं, अतः 'तत्र' पद से दोनों ही स्थानों का संकेत (इशारा किया है। यहाँ पर 'षट् पष्ट्या च समं शतानि' इस वाक्य का यथा श्रुत अर्थ करने पर आठ वर्ष अधिक हो जाते हैं, अतः, इस प्रकार से व्याख्या करनी चाहिये कि उसी में प्रत्येक सैकड़ा में ६० और जोड़ देना चाहिये तब नो सौ साठ वर्ष होते हैं, पहले राज्य प्राप्ति वाला ४२ व्यालिसवां वर्ष वर्तमान था और यहाँ भी एक विद्यमान है, आगे भी अयुत (१००००) संख्या में एक वर्ष विद्यमान है, अतः सभी वर्षों का योग ग्यारह हजार (११०००) संख्या के समान हो जाता है । राज्य प्राप्ति के बाद और विवासन (वाल्मीकिजी के आश्रम में जाने) के पहले का वर्ष इस संख्या के भीतर ही है, नहीं तो यदि वह वर्ष इस संख्या के भीतर न होता तो उस वर्ष की गणना करने पर अधिक संख्या हो जाती, अतः इसके अन्तर्गत ही है। 'नववर्षाणि' इस पद का अर्थ यह है कि नव वर्ष यानी सुन्दर अर्थात् मङ्गलमय वर्ष है, भाव यह है कि श्रीरामजी के नित्य संयोग में ही वर्षों की मङ्गलता है (यहाँ ग्रन्थकार ने 'नववर्षाणि' पद को संख्या बोधक नहीं माना । किन्तु, मंगलमय वर्षों का बोधक माना है और चमत्कारिक पद्धति से 'षट् षष्ट्या च समं शतानि' इसी संख्या का बोध किया है, यदि 'नववर्षाणि' का समन्वय 'शतानि' के साथ कर के 'षट् षष्ट्या समं' भी अन्वित कर दें तो उपयुक्त ९६६ वर्ष सिद्ध होते है, इसमें राज्य प्राप्ति तक के ४२ वर्षों को युक्त कर देते हैं तो एक हजार आठ वर्ष होते हैं जिस में आठ वर्ष अधिक हो जाते हैं, अतएव यथा श्रुत अर्थ नहीं किया गया है)।

न च विरहो निषिद्धस्तावद्वर्षपर्यन्तमवस्थितिरिति वाच्यम्, रामायणादि बहु ग्रन्थेषु कुशलवयोर्यद्वालत्वमुक्तं तद्विरोधापत्तेः, ततो राम राज्याद्भूविवरप्रवेशो व्याजमात्रम् । अतएव सीता प्रविष्टा महीमित्युक्त्वा "भूमौ निर्गत सीतया विरहितो रामो महीं केवलां वर्षाणामयुतं ततः समभुनक् चैकातपत्रेण सः" इत्युक्तम् । तस्यार्थः - निर्गतया सीतया भूमौ अविरहितः = संयुक्तः सन् केवलां महीं - अन्यपालक रहितां महीं बुभुजे इत्यर्थः । एतेनापि भूविवरप्रवेशोत्तरं निर्गमनमुक्त्वा संयोग एवोक्तः । अतएव सिद्धेश्वरतन्त्रोक्त सीता सहस्रनाम्नि 'गुहोद्भवा' इति सीता नामोक्तम् । अवस्थितिस्तु पञ्चदशवर्षपर्यन्तमेव । अतएवागतयोः कुशलवयोः 'बालौ' इति व्यवहारः सङ्गच्छते । न च तादृशायुसम्पन्नयोः किञ्चिदधिक नवशत वार्षिकयोस्तथा व्यवहार उचित एवेति वाच्यम्, द्विचत्वारिंशद्वर्षे प्राप्तराज्यस्य श्रीरामस्यातीवबालत्वापत्तेः ।

यदि कोई कहे कि उतने वर्षों तक की अवस्थिति रहने से विरह का निषेध है सो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि रामायणादिक बहुत से ग्रन्थों में कुश और लव जी का जो बालभाव कहा गया है उसका विरोध हो जायगा । अतः श्रीराम राज्य प्राप्ति के बाद जो भूविवर प्रवेश है वह व्याज मात्र है। अतएव - 'श्रीसीता जी पृथ्वी में प्रवेश कर गईं । ऐसा कह कर 'भूमि से निकली हुईं श्रीसीताजी से संयुक्त श्रीरामजी ने (१००००) दश हजार वर्ष तक पृथ्वी का एक छत्र से भोग किया । तात्पर्य यह है कि जब नैमिषारण्य में श्रीसीताजी भूविवर प्रवेश कर गईं तत्पश्चात् पुनः श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में प्रगट हो गईं और फिर श्रीराम से संयुक्त हो गईं तब श्रीसीता जी के सहित श्रीरामजी ने अन्य पालक रहित पृथ्वी का स्वयं पालन किया । इस कथन से भी भूविवर प्रवेश के बाद पुनः संयोग ही कहा गया है । अतएव सिद्धेश्वर तंत्र में कहे गये सीतासहस्त्र नाम में 'गुहोद्भवा' यह श्रीसीताजी का नाम कहा गया है, श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में तो पन्द्रह वर्ष तक ही रहीं हैं, अतएव आये हुए कुश और लव दोनों बालक हैं यह व्यवहार भी संगत होता है । यदि कहें कि उस समय युग के प्रमाण के अनुसार कुछ अधिक ९०० नौसै वर्ष की अवस्था वाले दोनों में 'ये बालक हैं' ऐसा व्यवहार उचित है ? सो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तह तो उस युग के हिसाब से ४२ बयालीस वर्ष की अवस्था में राज्य की प्राप्ति श्रीरामजी को हुई थी उस समय आपको अति बालकता की आपत्ति आ जायगी । अतः पन्द्रह वर्ष ही वाल्मीकि के आश्रम में रहीं ।

वाल्मीकिरामायणक्रमादपि पञ्चदशवर्षाण्या- यान्ति, तत्क्रमस्त्वमुना प्रकारेण श्रीजानकीं वाल्मीक्याश्रमे स्थापयित्वाऽगतेन लक्ष्मणेन साकं दिनचतुष्टयं तूष्णीं स्थितस्य रामस्य पञ्चभ्यां रात्रौ सम्वादः, द्वितीयस्मिन्दिनेश्वब्राह्मण सम्वादस्ततो मुनीनां वसन्ते आगमनं, ततः शत्रुघ्न प्रस्थापनं, तस्य वर्षतौं वाल्मीक्याश्रमे गमनं, तस्मिन्नेव दिने श्रावणरात्र्यां कुशलवयोर्जन्म, ततो लवणवधः, ततो द्वादशवर्षे वाल्मीकेराश्रमे गमनं, ततो बालयोर्गीत श्रवणं, ततोऽयोध्यायां सप्तरात्रमुषित्वा मथुरायां गमनम, ततः कतिपयदिनैः शूद्रवधस्तस्मिन्नेव वनेगृध्रोलूक-सम्वादस्ततोऽगस्त्याश्रमे

एकरात्रमुषित्वायोध्यायामागमनम् । तदुत्तरं सम्वत्सराक्षिक प्रथमाश्वमेधदीक्षारम्भः, तदुत्तरं सम्वत्सरे दीक्षासमाप्तिस्तस्यामेव सम्वत्सरमात्रं लक्ष्मणहयचर्या, ततः मायापवर्गस्याहीनस्याश्वमेधस्य मासे समाप्तिस्तस्मिन्नेव वर्षे षट्ऋतुषुसर्वेऽश्वमेधाङ्गभूताः । अस्मिन्नेव यज्ञे बालयोर्गीतश्रवणं, सीताया आगमनं, तत्रैव भूविवरप्रवेशव्याजेन पुनर्वाल्मीक्याश्रमे गमनं, बालयोरपि गमनं, पुनर्द्वितीययज्ञारम्भस्तस्मिन् यज्ञे शत्रुघ्नहयचर्य्या, लवकुशाभ्यां साकं युद्धञ्च, ततः श्रीरामाज्ञया सीतामानेतुं लक्ष्मण गमनं, सीताया लवकुशाभ्यां सार्द्धमानयनञ्च, तस्मिन् काले चतुर्दश वर्षाषयतीतानि, पञ्चदशीयं वर्ष विद्यमानमासीत्, एकंगर्भस्थमेवञ्च मिलित्वा षोड़शवर्षाणि भवन्ति ।

वाल्मीकि रामायण के क्रम से भी पन्द्रह वर्ष होते हैं। वह क्रम इस प्रकार से है कि श्रीलक्ष्मण कुमार जब श्रीजानकी जी को वाल्मीकिजी के आश्रम में स्थापित करके चले आये तब चार दिन तक श्रीरामजी चुपचाप मौन बैठे रहे । पाँचवीं रात्रि में लक्ष्मण जी के साथ सम्वाद हुआ, उसके द्वितीय दिन कुत्ता और संन्यासी का सम्वाद हुआ, पुनः वसन्त ऋतु में मथुरा से मुनिगण आये, तब श्रीशत्रुघ्नजी को भेजा और शत्रुघ्नजी वर्षा ऋतु में वाल्मीकि जी के आश्रम में गये, उसी दिन श्रावण मास की रात्रि में कुश और लव जी का जन्म हुआ, उसके बाद लवणासुर का वध हुआ, फिर बारह वर्ष के बाद शत्रुघ्न जी पुनः वाल्मीकिजी के आश्रम में गये, और वहाँ बालकों के गीत का श्रवण किया, फिर अयोध्या में आकर सात रात्रि तक वास करके पुनः मथुरा जी लौट गये, फिर कुछ दिनों के बाद श्रीरामजी ने शम्बूक नामक शुद्र का वध किया; उसी दिन उसी बन में गृध्र और उलूक का सम्वाद हुआ, फिर श्रीरामजी अगस्त्य जी के आश्रम में एक रात्रि वास करके अयोध्या जी लौट आये, तदनन्तर सम्वत्सर में पूर्ण होने वाली प्रथम अश्वमेध की दीक्षा का आरम्भ किया, उस समय एक साल में दीक्षा की समाप्ति की थी । इसी दीक्षा में एक वर्ष तक श्रीलक्ष्मणजी ने अश्वमेधीय अश्व की सेवा की । इसके बाद 'मायापवर्ग अहीन' नामक अश्वमेध यज्ञ की एक महीना में समाप्ति हुई, इसी वर्ष में षट् ऋतुवों में सभी अश्वमेध के अंगभूत कर्मों' की समाप्ति हुई, इसी अश्वमेध यज्ञ में लव और कुश के गान का श्रवण किया और श्रीसीताजी को बुलाईं, इसी यज्ञ में भूविवर प्रवेश के बहाने से श्री जानकी जी पुनः वाल्मीकि जी के आश्रम में चली गईं और लव कुश भी चले गये । फिर श्रीरामजी ने दूसरे यज्ञ का आरम्भ किया, उस यज्ञ में शत्रुघ्नजी ने घोड़ा की सेवा की और लव कुश के साथ युद्ध भी किया था, तदनन्तर श्रीरामजी की आज्ञा से श्रीसीताजी को लाने के लिये लक्ष्मणजी गये और कुश लव के सहित श्रीजानकीजी को ले आये, इतने काल में चौदह वर्ष व्यतीत हो गये और लव कुश का पन्द्रहवाँ वर्ष वर्तमान था, एक वर्ष गर्भस्थ का है एवं सब मिलकर सोलह वर्ष हो जाते हैं ।

अतएव जैमिनिभारते वर्तमानाभिप्रायेण लव-कुशयोः षोडशवर्षाण्युक्तानि तयोर्विवाहाःश्रीरामचन्द्रैः समक्षमेव कारिता इत्यवगम्यते यस्मान्नाक्षत्रे पञ्चदशे वर्षे कृतोद्वाहस्य श्रीरामस्य परमस्नेह विषयीभूतयोः सकलगुण सौभाग्यादिनिधानयोर्दश

सहस्रवर्ष पर्यन्त विवाह विलम्बस्यानौच्चित्त्यात्, तस्मादेव कालिदासेन श्रीरामचन्द्रस्याप्राकट्योत्तरमयोध्यायामागतस्य कुशस्य सरय्वां बह्वीभिर्वधूभिः सार्द्धं जलक्रीडा वर्णिता । विवाहास्तु न वर्णिताः श्रीरामसमक्षमेव विवाहानां जातत्वात्, तदुत्तरं कुमुद्वती विवाहस्तस्यामेवातिथेरुत्पत्तिरिति वर्णितम् । लवकुशयोः पुत्रपौत्रादिकं भरत लक्ष्मणशत्रुघ्नानामपि पुत्राणां पुत्रपौत्रादिकं श्रीरामसमक्षमेव जातं तेषां पृथक् पृथग्राज्यानि दत्तानि । अतएव बालकाण्डे प्रथम सर्गे 'राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः' (वा. बा. स. १ श्लो. ९६) इति विवृद्धान् प्रत्येकं राज्यप्रदानेन स्थापयिष्यतीत्यर्थः । उत्तरकाण्डे 'राजवंशोंश्च बहुशो बहून् संस्थापयिष्यति, (वा. उ. स. ५१ श्लो. २२) इति चोक्तम् । अन्येषां कुशपुत्राणां श्रीरामचन्द्रैरेवान्यत्र देशान्तरे राज्यं दत्तं स्थितम् । अतः कनिष्ठस्प्याप्यतिधेरयोध्याराज्य प्राप्तिः ततो दशसहस्रवर्षपर्यन्तं प्रकाशभेदेन श्रीजानक्या महिष्या वावातादिस्थानापन्नया काञ्चन्याहि यज्ञकरणमिति तत् सिद्धा पञ्चदशवर्ष पर्यन्तं जानक्या वाल्मीक्याश्रमेवस्थितिः, तावद्वर्षपर्यन्तं श्रीरामस्यापि वाल्मीक्याश्रमेऽवस्थानं हरिवंश उक्तमस्ति ।

अतएव जैमिनि भारत में वर्त्तमान वर्ष के अभिप्राय से लव कुश की सोलह वर्ष की आयु कही गई है और इन दोनों भाइयों के विवाह तो श्रीरामचन्द्रजी ने अपने सामने ही कर दिये थे ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि नाक्षत्रमान से पन्द्रह वर्ष में जब श्रीरामजी का विवाह हो गया था तो परम स्नेह के पात्र, सकल गुण और सौभाग्य आदि के निधान लव कुश दोनों को दश हजार वर्ष तक विवाह का विलम्ब अनुचित सा प्रतीत होता है, अतएव कालिदास ने श्रीरामचन्द्रजी के अन्तर्ध्यान के बाद अयोध्या में आये हुए कुशजी की सरयू में बहुत सी स्त्रियों के साथ जल-क्रीडा का वर्णन किया है और विवाहों का वर्णन नहीं किया है, क्योंकि विवाह तो श्रीरामजी के सामने ही हो गये थे। तदनन्तर ही कुमुद्वती के साथ विवाह का वर्णन किया है और कुमुद्वती से ही अतिथि नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई ऐसा वर्णन किया है। कुश लवजी के पुत्र पौत्रादि तथा भरत लक्ष्मण शत्रुघ्नजी के पुत्रों के पुत्र पौत्रादि श्रीरामजी के सामने ही हो गये थे और रामजी ने उन सब को अलग-अलग राज्य भी प्रदान किया था । अतएव बालकाण्ड में 'श्रीरामजी शतगुणित राजवंशों को स्थापित करेंगे' अर्थात् बढ़े हुए प्रत्येक कुमार को राज्य प्रदान करके स्थापित करेंगे । उत्तरकाण्ड में भी 'बहुत प्रकार से बहुत - से राजवंशों को स्थापित करेंगे' यहाँ भी कहा है और जो श्रीकुशजी के पुत्र थे उनको भी श्रीरामचन्द्रजी ने अन्य देशों के राज्य दिये थे । अतः कनिष्ठ पुत्र श्रीअतिथि को अयोध्याजी के राज्य की प्राप्ति हुई । इसके बाद दश हजार वर्ष तक प्रकाश भेद से महिषी वावातादि के स्थानापन्न काञ्चनी श्रीजानकीजी के सहित यज्ञों को किया । अतः पन्द्रह वर्ष तक वाल्मीकीजी के आश्रम में रहना सिद्ध हुआ । और उतने ही दिनों तक श्रीरामजी भी वाल्मीकिजी के आश्रम में रहे, यह बात हरिवंश पुराण में कही गई है।

तथाहि हरिवंशे काश्मीर पुस्तकपाठे श्रीरामचरित्रे 'अप्यत्र गाथा गायन्ति ये पुराणविदो जनाः । रामेतिबद्धतत्त्वार्थाः माहात्म्यं तस्य धीमतः । श्यामो युवा लोहिताक्षो दीप्तास्योमितभाषितः आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः । दश वर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च । अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् । रामः षोडश वर्षाणि विश्वामित्रसहायवान् । चचार चतुरो वर्षान् जनकस्य निवेशने । युगवर्षमयोध्यायामुवास भरताग्रजः । वने चतुर्दश समा लक्ष्मणेन सहायवान् । वाल्मीकेराश्रमे पञ्च पञ्चस्कन्दपुरे तदा । वाल्मीकेराश्रमे तत्र प्रस्थिता सा च सुन्दरी । अयासीच्च स शत्रुघ्नो लवणस्य वधाय च । त्रीणि वर्षसहस्राणि सीतया राम एव च । स राज्यमकरोत्तत्र सुखेन नगरे पितुः । न भवेदीदृशो दुःखी पृथिव्यां जनमेजय । सप्तवर्षसहस्राणि पञ्चाशच्च त्रयाधिकम् । ततः पूर्णं नवशतमाधिपत्यमुवास सः। ऋक्सामयजुषां घोषो ज्याघोषश्च महास्वनः । अविच्छिन्नो भवद्राज्ये दीयतां भुज्यतामिति । सत्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा । अतिसूर्य्यञ्च चन्द्रञ्च रामो दाशरथिर्विभौ । ईजे क्रतुशतैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः । हित्वाऽयोध्यां दिवं यातो राघवोसौ महाबलः । एवमेष महाबाहुरिक्ष्वाकु कुलनन्दनः । रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रान्तवान् विभुः" इति ।

काश्मीर के हरिवंश पुराण को पुस्तक में श्रीरामचरित्र के विषय में इस प्रकार लिखा है कि 'हे जनमेजय ! श्रीरामजी में अति गाढ भाव रखने वाले तत्वज्ञ पुराणवेत्ता महापुरुष श्रीरामजी का चरित्र यहाँ गान करते हैं और श्रीरामजी का माहात्म्य भी वर्णन करते हैं तथा वे श्रीरामजी श्याम, युवा, अरुणा कमल के सदृश नेत्र, और प्रकाशयुक्त मुखारविन्द वाले हैं, अल्प भाषण करते हैं और आजानु भुजा वाले हैं, सुन्दर मुख, सिंह के समान कन्धा तथा महान् भुज वाले हैं, दश हजार और दश सौ वर्ष तक श्रीअयोध्याजी के अधिपति होकर रामजी ने राज्य किया । सोलह वर्ष की अवस्था वाले श्रीरामजी विश्वामित्र जी के साथ चार वर्ष तक श्रीमिथिलेश जी के महल में रहे । चार वर्ष तक श्रीभरताग्रज श्रीरामजी अयोध्या में रहे । लक्ष्मणजी के सहित चौदह १४ वर्ष वन में रहे । वाल्मीकिजी के आश्रम में पाँच वर्ष रहे और स्कन्द पुर में पाँच वर्ष रहे । पुनः श्रीजानकीजी ने श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में प्रस्थान किया । श्रीशत्रुघ्नजी लवणासुर के मारने के लिये गये । श्रीपिताजी के नगर अयोध्याजी में सुख से श्रीसीताजी के सहित श्रीरामजी ने तीन हजार वर्ष तक राज्य किया । हे जन्मेजय ! पृथ्वी मण्डल पर ऐसा कोई भी दुःखी नहीं हुआ और ७९५३ सात हजार नौ सौ तिरपन वर्ष तक आधिपत्य का सेवन किया । श्रीरामजी के राज्य में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद का महान् घोष होता था, शत्रुओं को मारने के लिये धनुष की डोरी का भी महान् घोष होता रहा और निरन्तर खूब "देओ, भोजन कराओ" यही शब्द बराबर होता था । श्रीरामजी सत्व वाले, सभी श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न थे, अपने तेज से देदीप्यमान थे। सूर्य और चन्द्रमा से भी अधिक प्रभाविशिष्ट होकर सुशोभित थे । सम्पूर्ण श्रेष्ठ दक्षिणा वाले पवित्र सैकड़ों यज्ञों से यजन किया । फिर महाबलशाली श्रीराघव श्रीअयोध्याजी त्यागकर स्वर्ग को पधारे । इस प्रकार

इक्ष्वाकुकुलनन्दन महाबाहु सर्वव्यापक श्रीरामजी ने परिवार के सहित रावण को मारकर स्वर्ग को पदार्पण किया।

अस्यार्थः 'अप्यत्र गाथा गायन्ति' इत्यारभ्य 'रामो राज्यमकारयत्' इत्यन्तं स्पष्टम् । रामः षोडशेतिपदेति जातानीति चाध्याहार्यं, तेन यदा षोडश वर्षाणि जातानि गर्भाभिप्रायेण, तेन पूर्वोक्तनाक्षत्रमानेन बोध्यं तदा रामः विश्वामित्रसहायवान् सन् चतुरो जनकस्य निवेशने वर्षान् चचार । इदं जनकगृहगमनं राज्य प्राप्त्युत्तरं ज्ञेयमन्यथा रामायणादिविरोधः स्यात् तथाहि 'मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः (वा. और. स. ४७ श्लो. १०) इति सीतावाक्ये पञ्च विंशोक्तिर्विरुद्धा स्यात् यतः रामः षोडशवर्षाणि विश्वामित्रसहायवानित्यत्रोक्तानि षोडशवर्षाणि तानि नाक्षत्राणि 'ऊनषोडशवर्षो मे' (वा. बा. स. २० श्लो. २) इति वाक्यानुरोधात् । ततो जनकगृहे त्रीणि वर्षाण्ययोध्यायां द्वादश, एवं मिलित्वैकत्रिंशद्वर्षाणि भवन्ति । यद्ययोध्यायां युग पदेन चत्वारि वर्षाणि गृह्यन्ते तदा त्रयोविंशति वर्षाणि भवन्ति यदि जनकगेहीय चत्वारि वर्षाणि गृहयन्ते तदा सप्तचत्वारिंशत्संख्यात एकमधिकं भवतीत्यग्रे वक्ष्यते । अतो जनकगृहवासीय त्रीणि वर्षाणि राज्यप्राप्त्युत्तरमेव ज्ञेयानि ।

उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ तत्वप्रकाशकार स्वयं भी लिखते हैं यथा 'अप्यत्र गाथाः' यहाँ से आरम्भ कर 'राज्यमकारयत्' यहाँ तक का अर्थ स्पष्ट ही है, 'रामः षोडशवर्षाणि' इस श्लोक में 'यदा' 'जातानि' इन दो पदों का अध्याहार कर लेना चाहिये, तब यह अर्थ होगा कि जब सोलह वर्ष बीत गये अर्थात गर्भाभिप्राय से सोलह वर्ष बीते, यहाँ भी नाक्षत्रमान से ही जानना चाहिये, तब विश्वामित्र जी के सहायक होकर चतुर श्रीरामजी जनकजी के घर में वर्षों रहे। यह जनकजी के घर में रहना राज्य प्राप्ति के बाद का है, अन्यथा रामायण आदि से विरोध हो जायगा। तद्यथा 'महातेजस्वी हमारे पति अवस्था में पच्चीस वर्ष के थे' इस श्रीसीताजी के वाक्य में पच्चीस वर्ष का कहना विरुद्ध हो जायगा, क्योंकि 'रामः षोडश वर्षाणि' इस श्लोक में कहे गये सोलह वर्ष नाक्षत्रमान से 'ऊनषोडशवर्षों मे, इन वाक्य के अनुरोध से जानना चाहिये, फिर जनकजी के घर में तीनवर्ष, अयोध्या में बारह वर्ष रहे एवं सब मिलाकर एकतीस वर्ष होते है, यदि अयोध्या में युगपद से चार वर्ष ग्रहण करेंगे तो सब मिलाकर तेईस वर्ष होते हैं, यदि जनकजी के घर में रहने वाले चार वर्ष ग्रहण करते हैं तो सैंतालीस संख्या से एक अधिक हो जाता है, यह आगे कहेंगे, अतः श्रीजनकजी के घर में वास वाले तीन वर्ष राज्य की प्राप्ति के बाद ही समझना चाहिये।

युगवर्षमयोध्यायामित्यत्र करिष्यमाणव्याख्यायायोध्यासमीपवर्ति वाल्मीक्याश्रमेवस्थितिः राज्यप्राप्त्युत्तरमेव न पूर्वम् । अतएव भरताग्रज इति विशेषणमपि साभिप्रायम् । यतो बहुव्रीहिसमासेन भरतोऽग्रे जातो नाम यौवराज्येन अग्रेसरत्वेन जातो यस्येतिद्योतितम् । लोकेऽप्यमस्मिन् कर्मणि 'अग्रे जातः' इत्यग्रेसरत्वव्यवहारोऽस्ति । भरतस्य यौवराज्यन्तु श्रीरामराज्यप्राप्त्युत्तरमेवास्ति । किञ्च 'चतुरो वर्षाञ्जनकस्य निवेशने' इत्युक्तस्य

'युगवर्षमयोध्यायाम्' इत्यनेनाव्यवहितपठनात्तान्यपि राज्यप्राप्त्युत्तरमेव ज्ञेयानि अत्र वर्षाणीति बहुत्वं त्रित्वे पर्यवसन्नम् । यदि त्रिचतुर इति वर्षसंख्याबोधकत्वेन व्याख्यायेत तह्यर्केवर्षाधिक्येन सप्तचत्वारिंशद्वर्षसंख्या न स्यात् । एवं वर्षमधिक स्यादतः 'चतुरः' इति श्रीरामविशेषणमेव । यदि षोडशवर्षपर्यन्तमेव विश्वामित्रेण सहावस्थानमुच्येताध्याहारो न क्रियेत तर्हि वाल्मीकिरामायणे विश्वामित्रं प्रति 'ऊनषोडश वर्षो मे रामो राजीवलोचनः । न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः' (वा. बा. स. २० श्लोक २) इति दशरथोक्तिर्बाधितास्यात् । अग्रे श्लोकस्यैकोऽन्वयः तथाहि - लक्ष्मणेन सहायवान् चतुर्दशसमा वने उवास, भरताग्रजः सन्नयोध्यायाञ्चोवास । अयोध्यावस्थितेर्द्वादशवर्षाणि तु - अग्रे 'त्रीणि वर्षसहस्राणि सीतया राम एव च' इत्यत्र सहस्रत्रये एवान्तर्भावितानि । ततः स्कन्द पुरे पञ्च वाल्मीकेराश्रमे च पञ्च, युगवर्षं यदा श्रीराम उवास तदा वाल्मीकेराश्रमे सा च सुन्दरी प्रस्थितेति, चकारोऽप्यर्थे तेन सापि प्रस्थितेत्यर्थः । युगवर्षपदेन चत्वारि वर्षाणि, पञ्च पञ्चेत्यनेन दशवर्षाणि एवं चतुर्दशभवन्ति ।

'युगवर्षमयोध्यायां' यहाँ पर आगे कही जानेवाली व्याख्या के हिसाब से अयोध्या के समीपवर्ती वाल्मीकि के आश्रम में अवस्थिति (रहना) भी राज्य मिलने के बाद ही है, पहले नहीं है । अतएव भरताग्रज यह विशेषण भी अभिप्राय के सहित है, क्योंकि बहुव्रीहि समास से 'भरतजी हैं आगे जायमान जिन के' अर्थात् युवराज होकर भरतजी जिन के अग्रेसर हैं यह अर्थ प्रकाशित किया है, लोक में भी ऐसा व्यवहार होता है कि 'यह इस काम में अग्रेसर हैं' तथा श्रीभरतलालजी को युवराज पद श्रीरामजी को राजगद्दी के बाद ही मिला है। किञ्च 'चतुरो वर्षान्' यहाँ पर कहे हुए वर्ष के बाद ही 'युगवर्ष' इस वाक्य का अव्यवहित (व्यवधान रहित) पाठ होने से वे भी राज्य प्राप्ति के बाद ही समझना चाहिये। यहाँ पर 'वर्षाणि' यह बहुवचन तीन वर्ष कहनेवाला है । यदि त्रि और चतुर शब्द वर्ष संख्या बोधकतया व्याख्यान किया जाय तो एक वर्ष अधिक होने से सैंतालीस वर्ष संख्या नहीं होती है, एक वर्ष अधिक हो जाता है । अतः 'चतुरः' यह श्रीरामजी का विशेषण ही है, यदि सोलह वर्ष तक ही विश्वामित्रजी के साथ रहना कहते हैं और अध्याहार नहीं करते हैं तो वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र के प्रति 'राजीवलोचन श्रीरामजी ऊनषोडश वर्ष के हैं, राक्षसों के साथ युद्ध में इनकी योग्यता नहीं देखता हूँ' यह दशरथजी का कथन बाधित होजायगा । आगे श्लोक का एकान्वय है, तथाहि लक्ष्मणजी की सहायता से युक्त श्रीरामजी चौदह वर्ष तक वन में रहे, और फिर भरताग्रज होकर रामजी अयोध्या में रहे, अयोध्या में रहने के बारह वर्ष तो आगे 'त्रीणि वर्षसहस्राणि' इसमें कहे गये तीन हजार में अन्तर्भूत हैं । ततः स्कन्दपुर में पाँच वर्ष और विल्मीकिजी के आश्रम में पाँच वर्षे रहे और चार वर्ष श्रीरामजी' वाल्मीकिजी के आश्रम में रहे तब उस सुन्दरी श्रीजानकीजी ने प्रस्थान किया । चकार यहाँ 'अपि' के अर्थ में है, अतः वह भी प्रस्थित हुईं, युगवर्ष पद से चार वर्ष और पंच-पंच पद से दश वर्ष हुए, दोनों मिलाकर चौदह वर्ष होते हैं ।

यदि युगवर्षमित्यनेनोक्तानि चत्वारि वर्षाण्योध्यावस्थितौ वनवासात्पूर्वं गृह्येरन् तर्हि श्रीरामायणे रावणंप्रति 'उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने । भुञ्जाना मानुषान्भोगान्सर्व काम समृद्धिनी' ॥ (वा. अ. स. ४७ श्लो ४) इति श्रीसीतोक्तौ द्वादशवर्षमयोध्यावस्थानोक्तिर्बाधिता स्यात्, तस्माद्युग वर्षमित्युक्तमवस्थानं राज्यान्तरमेव किञ्चायोध्या पदेनायोध्या समीपवर्त्ति वाल्मीक्याश्रमएव ग्राह्यः, अतएव यत्र रामस्तत्रायोध्येतिरेवाखण्डवचनाद् रामस्य वाल्मीक्याश्रमे विद्यमानत्वेनायोध्यात्वमेव, तेन श्रीरामायण प्रतिपादितानि वाल्मीक्याश्रमावस्थान वर्षाण्यतीतानि संगृहीतानि भवन्ति, स्कन्द पुरमिति वाल्मीक्याश्रमस्यैव विशेषणं, नतु स्थानान्तरं, वाल्मीकि रामायणादावप्रसिद्धत्वात् तस्यार्थः स्कन्द पुरं जन्म स्थानं, स च गंगातीरस्थमित्यर्थः स्कन्द पुर पदस्य स्कन्दपुर तीरे लक्षणा, तस्याः प्रयोजनं तु पावित्र्यातिशयएव ॥ काश्मीर पुस्तके भर्तृपुर इतिपाठः, तेन वाल्मीक्याश्रममेव बोध्यम्, भर्तुः श्रीरामस्य तत्र विद्यमानत्वादपि भर्तुः पुरमेव, तस्माद्वाल्मीक्याश्रमे श्रीजानक्याश्चावस्थानमस्ति, यदि वाल्मीक्याश्रमे श्रीसीताया एवावस्थितिरित्यंगीक्रियते तर्हि उपक्रान्तस्य श्रीरामस्याग्रहणं अनुपक्रान्तायाः सीतायाः ग्रहणञ्च तद् रूपो दोषः, तदेति पदस्यानन्वयश्चस्याद्वाल्मीकेराश्रमे तत्र प्रस्थितेत्यादि वाक्यस्य पौनरुक्त्यं स्यात्, चकारेण सीतागमनसमुच्चय बोधनञ्च बाधितम् स्यात् तस्मात्पूर्वोक्त व्याख्यानमेव सम्यक्, अत आसीदिति अतः वाल्मीक्याश्रमावस्थानोत्तरं लवणासुरवधाय शत्रुघ्नः प्रस्थितः, श्रीरामस्तुप्रकाशभेदेन चतुर्दश वर्ष पर्यन्तं वाल्मीक्याश्रमावस्थानोत्तरं सीतया सहैव त्रीणि वर्ष सहस्राणि तत्र पितुर्नगरेयोध्यायां सुखेनराज्मकरोदित्यर्थः ॥

यदि 'युगवर्ष' इस पद से कहे गये चार वर्ष अयोध्या की अवस्थिति में वनवास से पहले ग्रहण करेंगे तो वाल्मीकि रामायण में रावण के प्रति 'श्रीराम जी के घर में बारह वर्ष तक वास करके मानुष भोगों को भोगतीं हुईं सब कामों से समृद्धवती हो कर रही' इस श्रीसीताजी के कथन में द्वादश वर्ष तक की अयोध्या में रहने की उक्ति बाधित हो जायगी; इसलिये 'युगवर्ष' इस करके कहा गया अयोध्या में अवस्थान राज्य के बाद का ही है । किञ्च अयोध्या पद से अयोध्या के समीपवर्ति वाल्मीकि जी का आश्रम ही ग्रहण करना चाहिये । अतएव 'जहाँ रामजी है वहीं अयोध्या है' इस रेवाखण्ड के वचन से श्रीराम जी का वाल्मीकि जी के आश्रम में विद्यमान रहने से अयोध्या होना निश्चित है; अतः श्रीरामायण में प्रतिपादित वाल्मीकि जी के आश्रम में रहने के वर्ष व्यतीत हो गये थे । उन्हीं का संग्रह होता है; 'स्कन्दपुरं' यह भी श्रीवाल्मीकि जी के आश्रम का हो विशेषण है; अन्य स्थल का नहीं है; क्योंकि श्रीरामायणादि में तादृश कोई स्थल प्रसिद्ध नहीं है; उसका अर्थ है स्कन्दपुर जन्मस्थान को कहते हैं और वह गङ्गाजी हैं; अर्थात् गंगाजी के तीर में कई स्थान विशेष है; तथा स्कन्दपुर शब्द की स्कन्दपुर के तीर में लक्षणा है; उसका प्रयोजन तो पवित्रता का अतिशय द्योतनार्थ है; काश्मीर पुस्तक में भर्तृपुर ऐसा पाठ है अतः भर्तृपुर शब्द से वाल्मीकि जी का आश्रम ही समझना चाहिये भर्ता श्रीरामजी की वाल्मीक्याश्रम में विद्यमानता होने

से भी भर्तृपुर संज्ञा है; इसलिये वाल्मीक्याश्रम में श्रीराम जी और श्रीजानकी जी का वास हुआ। यदि वाल्मीक्याश्रम में केवल श्रीसीताजी की अब-स्थिति मानते हैं तो उपक्रान्त (प्रकरण से प्राप्त) श्रीरामजी का ग्रहण नहीं होगा और अनुपक्रान्त (प्रकरण में नहीं प्राप्त) श्रीसीताजी का ग्रहण हो जायगा। एक तो यह दोष होगा और 'तदा' इस पद का अन्वय बोध नहीं होगा; यह दूसरा दोष होगा और 'वाल्मीकेराश्रमे तत्र प्रस्थिता' इत्यादि वाक्य की पुनरुक्ति भी हो जायगी तथा चकार से श्रीसीताजी के आगमन का जो बोध किया गया है सो भी बाधित हो जायगा; इसलिये पूर्वोक्त व्याख्यान ही निर्दोष है। 'अतः आसीदिति' अतः माने वाल्मीक्याश्रम में अवस्थान के बाद लवण के वध करने के लिये श्रीशत्रुघ्नजी प्रस्थित हुए' और श्रीरामजी तो प्रकाशभेद से चौदह वर्ष वाल्मीक्याश्रम में वास करने के बाद श्रीसीताजी के साथ तीन हजार वर्ष तक पिताजी के नगर अयोध्याजी में सुख से राज्य किये।

अत्रवाल्मीक्याश्रमात्सीताया अयोध्या गमनं तु श्रीरामस्य सीतासहितराज्यकरणेनैवोक्तः, अत आनन्तर्यबोधकमतः पदमुक्त्वा 'त्रीणि वर्षसहस्राणि' इत्युक्तं, तेन सीतया सह राज्यकरणं तावद्वर्षवासोत्तरमेव, पाठक्रमादपि तथैवायाति, न मध्ये वियोगः किन्तु संयोग एव। सम्भावित वियोगनिरासार्थमाह 'न भवेदीदृशोदुःखी' इत्यत्र अदुःखीति पदच्छेदस्तेन ईदृश एतत्समः अदुःखी दुःखाभाववान् पृथिव्यां न भवेदेव किन्तु अयमेवेत्यर्थः, यद्वा दुःखीति पदच्छेदेपि ईदृशः पुण्यात्मा दुःखी न भवेत्किमुतायमिति। एषु सर्वेषु निरन्तरं सम्भोग एवास्तीति सूचितम्। 'सप्तवर्षसहस्राणि' इत्येषु सर्वेष्वपि न वियोगः परन्तु प्रकारान्तरेण यज्ञादि करणमस्तीति। 'ऋक्सामयजुषां घोषः' इत्यारभ्य 'ईजेक्रतुशतैः पुण्यैः समाप्तवरदक्षिणैः' इत्यन्तेनोक्तम्। एवं सर्वाण्यपि प्राकट्यवर्षाण्युक्त्वाऽप्राकट्यमुक्तम्।

यहाँ वाल्मीकिजी के आश्रम से श्रीसीताजी का आना तो श्रीरामजी का श्रीसीताजी के सहित राज्य करने से ही सिद्ध होता है। इसलिये आनन्तर्य बाद का बोधक अतः पद कहकर 'त्रीणि वर्ष सहस्राणि' तीन हजार वर्ष ऐसा कहा है। अतः श्रीसीताजी के साथ राज्य करना उतने वर्षों के बाद ही है। पाठ के क्रम से भी यही सिद्धान्त आता है, मध्य में वियोग नहीं होता है, किन्तु संयोग ही रहता है। प्रतीयमान वियोग के निराकरण के लिये कहते हैं कि 'न भवेदीदृशो' यहाँ पर अदुःखी ऐसा पदच्छेद है; इससे इनके समान दुःख के अभाववाला पृथिवी पर कोई नहीं है, किन्तु यही हैं, अथवा दुःखी ऐसा पदच्छेद करने पर भी यह अर्थ होगा कि ऐसा पुण्यात्मा दूसरा कोई भी दुःखी नहीं होगा, श्रीरामजी का तो कहना ही क्या है, इन सब में निरन्तर सम्भोग ही है ऐसा सूचित किया। 'सप्तवर्ष सहस्राणि' (इत्यादि सब में भी वियोग नहीं है परन्तु प्रकाशान्तर से यज्ञादि करना है। ऋक् साम यजुषां घोषः' यहां से आरम्भ कर 'समाप्त वरदक्षिणैः यहां तक के वाक्यों से कहा गया है। एवं सभी प्राकट्य वर्षों को कहकर अप्रकट वर्ष को कहे हैं।

श्रीभागवतेपि नाक्षत्रमानेन त्रयोदश वर्षाणि, सौरमानेन द्वादश वर्षाणि यज्ञकरणात्पूर्वमुक्तानि यज्ञकरणस्य वर्षत्रयमेवं रीत्या चतुर्दशवर्षाण्यतीतानि, पञ्चदशं वर्तमानं उपरिष्ठादेव 'ब्रह्मचर्यम्' इत्याद्यग्रे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते ।

श्रीभागवत में भी नाक्षत्र मान से १३ तेरह और सौर मान से १२ बारह वर्ष यज्ञ करने से पहले कहे गये हैं और यज्ञ करने के तीन वर्ष इस रीति से चौदह वर्ष बीत गये । १५ पन्द्रहवाँ वर्ष वर्तमान था, ऊपर से ही 'ब्रह्मचर्य' इत्यादि करके आगे विस्तार से प्रतिपादन करेंगे ।

नन्वेवमशोकवनिकायामेकादशसहस्रवर्षपर्यन्तं 'विहारः 'सीता राघवयोः' (वा. उ. स. ४२ श्लो २५) इति पूर्वोक्तमपि कथं सङ्गच्छते सीताया वाल्मीक्याश्रमे पञ्चदशवर्षपर्यन्तमुक्तयावस्थित्या विरोधात् भूविवरप्रवेशोक्तिविरोधाच्चेति, चेन्नवाल्मीक्याश्रमेऽवस्थितेर्भूविवर प्रवेशाभिनयस्य प्रकाश भेदेनोपपत्तेः, एव या-या अशोकवनाद्वहिर्लीला वावातादिस्थानापन्नया काञ्चन्या महिष्या जानक्या सह यज्ञकरणरूपा, अन्या 'मथुरामाहात्म्योक्ता मथुरा गमनादिरूपाश्च ताः सर्वाअपि श्रीसीतारामयोः प्रकाशभेदेन ज्ञेयाः तत्र प्रमाणन्तु 'सीतया सहवर्षाणां सहस्राण्यैक वै दश' इत्याश्वमेधीयवचनम् । 'दशवर्षं सहस्राणि दशवर्ष शतानिच । ययुस्तेषां सुमनसां यशः प्रथयतां भुवि' इति वाल्मीकिरामायण वचनमुक्तमेवेति दिक् । प्रकाशभेदस्तु कोशलखण्डे दशमाध्याये 'विहरन्तं क्वचिद्बालैः सरयूतटनीतटे । जनकौतुकसंयुक्त सवेत्र समरूपिणम् । क्वचिच्चापधरं रामं ददर्श क्वचिदश्वगम् । जनारूढं क्वचिद्रामं गजारूढं क्वचित्तथा । क्वचिदेव रथारूढम्' इत्यादौ शिवेन दृष्टः ।

यदि कहो कि अशोक वाटिका में ११००० ग्यारह हजार वर्ष तक विहार जो 'सीताराघवयोः' इत्यादि करके पहले कहा गया उसकी संगति कैसे होगी, क्योंकि श्रीसीताजी की वाल्मीकिजी के आश्रम में पन्द्रह वर्ष तक की अवस्थिति कही गई है उससे विरोध होगा, तथा पृथिवी प्रवेशोक्ति से भी विरोध होगा ? समाधान - सो नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वाल्मीक्याश्रम में रहने की और पृथिवी प्रवेश लीला की उपपत्ति प्रकाशभेद से हो जायगी, एवं जो-जो अशोक वाटिका से बाहर में वावाता आदि स्थानापन्न काञ्चनी सहित महिषी श्रीजानकीजी के साथ यज्ञ करना आदि लीलाएँ तथा मथुरामाहात्म्य में कथित मथुरा जाना आदि लीलायें हुई हैं वे सब श्रीसीतारामजी के प्रकाशभेद से समझनी चाहिये, इस विषय में प्रमाण तो 'श्रीसीताजी के साथ ११,००० ग्यारह हजार वर्ष तक' इत्यादि रामाश्वमेधीय वचन हैं, तथा 'सुन्दर मनवाले तीनों भाइयों के पृथिवी पर कीर्ति को विख्यात करते हुए ग्यारह हजार वर्ष बीत गये' यह वाल्मीकि रामायण का वचन पहले कह ही दिया है और प्रकाशभेद को श्रीकौशल खण्ड के दशमाध्याय में कहा है कि 'शिवजी ने कहीं तो सरयू के किनारे समान बालकों के साथ विहार करते श्रीरामजी को देखा और कहीं जनों के कौतुक के सहित वेत्र धारी के समान; कहीं धनुष को लिये अश्व पर सवार होकर चल रहे हैं, कहीं पालकी पर सवार हैं; कहीं हाथी पर सवार हैं, कहीं रथ के ऊपर बैठ कर चल रहे हैं, ऐसा देखा"

श्रीभागवते नारदेनापि 'चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् । गृहेषु द्वयष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहृत्, (भा. द. अ. ६९ श्लो. २) इति श्रीकृष्णस्य दृष्टः । दोहदरूपेण वनगमनं यावत् तस्यायमभिप्रायः - नित्यविहार शीलयोस्तयोस्तदानीं स्वगृहे विहारो न युज्यते, लोकसङ्ग्रहविरोधात्, गर्भवत्याः स्त्रियाः षण्मासोत्तरं संसर्ग निषेधाच्च । वने तु लोकागोचरतया विहारे लोकसङ्ग्रहो न विरुद्ध्यते । अतएव 'ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन । अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् (वा. उ. स. ४५ श्लो. २१) इति श्रीरामस्यापि सीतावन गमनमभीष्टमुक्तम् । एवञ्च दोहदयाचनाय प्रेरिता सीता वनगमनमेव याचि तवती 'स्मितं कृत्वा तु वैदेही (वा. उ. स. ४२ श्लो. ३२) इत्यादिना, तस्मान्नित्यक्रीडार्थमुभयोस्तथा सम्मतिरिति ।

इति श्री गालवाश्रमगाद्यधिपति मधुररसाचार्य्य श्री १००८ श्री मधुराचार्यकृते श्रीरामतत्व प्रकाशे श्रीरामलीलायां वर्षगणना क्रमोनामैकादशोल्लासः ॥११॥

श्रीभागवत में नारदजी ने भी यह आश्चर्य की बात है कि एक ही शरीर से एक साथ पृथक-पृथक घरों में सोलह हजार स्त्रियों से अकेले ही उद्बाहन किया' ऐसे श्रीकृष्ण को देखा था । दोहद (मंगल) रूप से जो वनगमन हुआ उसका यह अभिप्राय है कि नित्यविहार करनेवाले दोनों सरकार का उस समय अपने घर विहार बन नहीं सकता था, क्योंकि लोकसंग्रह से विरोध हो जायगा और गर्भवती स्त्री का षट् मास के बाद संसर्ग का निषेध भी शास्त्रों में किया गया है और वन में लोक के अगोचर होने से विहार करने में लोक संग्रह से विरोध नहीं होता, अतएव 'जो कोई मेरे विचार के विरुद्ध मेरी अनुनय विनय के लिये कोई भी वाक्य कहेंगें वे मेरे नित्य अभीष्ट के नाश करने से अहित कारक हैं' इस वाक्य से श्रीरामजी की भी श्रीसीतावन गमन में अभीष्टता कही गई है। एवं च दोहद की याचना के लिये प्रेरित श्रीसीताजी ने वन गमन की ही याचना की है, अन्य की नहीं 'मन्दमुस्कान करके श्रीवैदेहीजी ने कहा' इत्यादि वाक्यों के निश्चय होता है, इसलिये नित्यविहार करने के लिये इसी प्रकार की दोनों की ही सम्मति समझनी चाहिये ।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेनाखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिधभाषाटीकायामेकादशोल्लासः ॥११॥

अथ द्वादशोल्लासः

अथ वाल्मीकिरामायणादौ लवकुशयोर्युद्धं विनैवागमनं श्रूयते, रामाश्वमेधादौ तु शत्रुघ्नेन सार्द्धं युद्धं कृत्वाऽगमनं श्रूयते । तत्रायं विवेकः यत्प्रथमे यज्ञ लक्ष्मणहयचर्या, ततः सीताया लवकुशाभ्यां सहांशेन यज्ञ आगमनं, ततश्शपथ- व्याजेन विवरं प्रविश्य वाल्मीक्याश्रमे निर्गमनं । अतएव सिद्धेश्वर तन्त्रस्थसीतासहस्रनाम्नि 'गुहोद्भवा' इति सीताया नाम कथितम् ततो यज्ञ-समाप्तिश्च । इदञ्च प्रतिपादितं पद्मपुराणे - 'वैनतेयं समारुह्य तस्मान्मार्गादपाक्रमत् । दासीगणैः पूर्वभागे सम्वृता जगदीश्वरी । सम्प्राप्ता परमंधाम योगिगम्यं सनातनम्' इत्यादिना । अस्यार्थः - सा परमं धाम सनातनं - वाल्मीक्याश्रमे पूर्व विद्यमानमुत्कृष्ट धाम मन्दिरं प्राप्ता, कीदृशं योगिगम्यं योगिभिर्वाल्मीकिशिष्यैर्गम्यं प्राप्तुं शक्यं तदतिरिक्तानां राजकीयपुरुषाणां दुर्गममिति, स्पष्टोर्थः । भूविवरप्रवेशाभिनयोत्तरमपि उत्तरकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तके 'पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया' (वा. उ. स. ९८ श्लो. ८) इति सत्यप्रतिज्ञेण रामेण प्रतिज्ञातत्वात् । यथा 'स्वर्गे ते सङ्गमो भूयो भविष्यति न संशयः' (वा. उ. स. ९८ श्लो १५) इति स्वर्गे स्वर्गजनके अश्वमेधयज्ञ एव भूयः सङ्गमो भविष्यतीति सूचनाच्च । संयोग एव ज्ञेयः । अत्र स्वःगमयति प्रापयतीति व्युत्पत्या स्वर्गपदेन यज्ञोऽभिधीयते ।

श्रीवाल्मीकि रामायणादि ग्रन्थों में युद्ध के विना ही श्रीलव और कुशजी का आना सुना जाता है, तथा श्रीरामश्वमेध आदि ग्रन्थों में श्रीशत्रुघ्नजी के साथ युद्ध करके आना सुना जाता है, तो इन दोनों ही बातों का विवेक यह है कि प्रथम यज्ञ में श्री लक्ष्मणजी ने अश्वमेधीय घोड़ा की रक्षा की और उसी यज्ञ में श्रीसीताजी का लवकुश के साथ अंश से आगमन हुआ और शपथ के बहाने से भूविवर में प्रवेश करके वाल्मीकिजी के आश्रम में निकलना हुआ, अतएव सिद्धेश्वर तन्त्र में स्थित श्रीसीताजी के सहस्रनाम में 'गुहोद्भवा' यह नाम कहा गया है। उसके बाद यज्ञ की समाप्ति हुई । इस प्रकार पद्मपुराण में प्रतिपादन किया गया है यथा - जगदीश्वरी श्रीजानकीजी पूर्वभाग में दासीगणों से घिरी हुई गरुड़ पर सवार होकर उसी मार्ग से निकल गईं और योगिगम्य सनातन परम धाम में प्राप्त हुईं, अर्थात् सनातन वाल्मीकिजी के आश्रम में पहले से ही विद्यमान परम उत्कृष्ट धाम मन्दिर को प्राप्त हुईं, कैसा वह धाम है कि योगिगम्य है अर्थात् योगि जो वाल्मीकिजी के शिष्य हैं उन्हीं से प्राप्त करने योग्य है, उनसे अतिरिक्त राजकीय पुरुषों को दुर्गम है। भूविवर प्रवेश की लीला के बाद भी उत्तरकाण्ड में माहेश्वर टीका पुस्तक में पाताल अथवा नाक पृष्ठ में श्रीसीताजी के साथ मैं बसूँगा' यह सत्य प्रतिज्ञावाले श्रारामजी की प्रतिज्ञा होने से और 'स्वर्ग में आप के साथ फिर भी संगम होगा इसमें संशय नहीं है,' अर्थात् स्वर्ग = स्वर्ग जनक अश्वमेध यज्ञ में फिर भी संगम होगा इस ब्रह्माजी के वाक्य से सूचित होने से संयोग ही समझना चाहिये । यहाँ

पर स्वः माने स्वर्ग उसको जो प्राप्त करावे उसको स्वर्ग कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से स्वर्ग पद से यज्ञ का अभिधान है ।

टिप्पणी - लीलावतार में भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् की अन्तः और बाह्यलीलाओं का क्रम अक्षुण्ण चला करता है जिससे नित्यधाम निवासी मुक्तजनों के चिद्विलास की परम्परा नष्ट न हो । प्रभु की उन उभय लीलाओं का स्वारस्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग उपासनानिष्ठ तत्कृपाभाजन विरल सन्त ही जानते हैं, बहिर्जगत् का भान भूलकर जिन्हों ने अन्तःजगत् के दिव्य दर्शन का लाभ कभी प्राप्त नहीं किया है वे इन प्रकरणों का तात्पर्य कभी नहीं जान सकते, इसलिये तो रस निष्ठ भावुक सद्गुरु की करुणा का परम आधार होना चाहिये ।चित्रकूट-पञ्चवटी-वाल्मीक्याश्रम-व्रज और मिथिला का रहस्य समझने के लिये अनन्तलीलार्णव प्रभु के ऐश्वर्य एवं माधुर्य का पूर्ण तत्व जानने की आवश्यकता है । वह तत्व उभयविभूति नायक रसमूर्ति रघुनन्दन की कृपा से उनके उपासकों द्वारा ही जाना जा सकता है और तभी इन प्रकरणों का तात्पर्य समझ में आ सकता है।

द्वितीययज्ञे शत्रुघ्नहयचर्या, तत्रैव लवकुशाभ्यां तेनसाकं युद्धं', ततः सीताया आगमनम् । अतो रामाश्वमेधे 'समागतां वीक्ष्य पत्नीं रामचन्द्रस्य कुम्भजः । सुवर्णपत्नीं धिक्कृत्वा तामधाद्धर्मचारिणीम् । रामस्तदा यज्ञमध्ये शुशुभे सीतया सह । तारयानुगतो यद्वच्छशीव शरदुत्प्रभः ।' इत्यादि वचनैः काञ्चन्या निवारणोत्तरं सीतया सह यज्ञकरणमुक्तम् । जैमिनिभारताश्वमेधेपि 'सीतां नीत्वा पुत्रयुतां संस्थाप्य रघुसन्निधौ । रामः पुत्रयुतो जातः सीतया सहितः स्थितः' इत्यनेन संयोग एवोक्तः । अतएवेदं माहेश्वरटीका पुस्तके 'हृदि कृत्वा सदा सीतामयोध्यां प्रविवेश ह । न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः । यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनीभवत्' (वा. उ. स. ९९ श्लो, ६-७) इतिवाल्मीकि रामायण वचनैः सूचितम्, तथाहि - यज्ञे यज्ञे च पत्नयर्थं जानकी काञ्चनीभवदिति च शब्दः स्वस्थानेऽनुपयुक्तत्वात्तत उत्कृष्य काञ्चनीशब्दोत्तरं बोध्यः । तथा च प्रतियज्ञं पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी चाभवदिति । तथा चाश्वमेधे वावाता परिवित्तिपालाकलीनां स्थाने काञ्चन्याः सत्वेऽपि न जानक्या महिष्याः स्थाने काञ्चनी तस्याः स्वत एव विद्यमानत्वादित्याशयः स्पष्टतएव पूर्वमुक्तः । 'हृदिकृत्वा सदा सीताम्' इति उरसिमालां कृत्वेतिवद्धदि सदा सीतां कृत्वेति बोध्यं तेन स्पष्टमेव संयोगः समायाति एवञ्च सीतया सह यज्ञकरणमिति रामाश्वमेधीयोर्थः सूचित एवेति ज्ञेयम् ।

द्वितीय यज्ञ में शत्रुघ्नजी ने अश्व की परिचर्या की, उसी में लवकुश के साथ शत्रुघ्नजी का युद्ध हुआ और उसके बाद श्री सीत जी का आगमन हुआ । अतः रामाश्वमेध में 'कुम्भसम्भव श्रीअगस्त्यजी ने श्रीरामजी की पत्नी श्रीजानकीजी को आई हुईं देख कर सुवर्णमयी पत्नी को हटाकर धर्मचारिणी श्रीजानकीजी को बैठाया, उस समय श्रीसीताजी से श्रीरामजी ऐसे सुशोभित हुए जैसे तारा रोहिणीजी से अनुगत चन्द्रमा सुशोभित हो ।' इत्यादि वचनों से काञ्चनी सीता के हटाने के बाद

साक्षात्सीताजी के महित यज्ञ करना कहा गया है। जैमिनि भारत के अश्वमेध पर्व में भी 'पुत्रों के सहित श्रीसीताजी को लाकर श्रीरामजी के पास में स्थापित किया तब श्रीरामजी पुत्रों से युक्त हुए और श्रीसीताजी के सहित स्थित हुए' इस से नित्य संयोग ही कहा गया है। अतएव यह बात माहेश्वरटीका पुस्तक में 'श्रीसीताजी को सदा हृदय में करके श्रीरामजी ने अयोध्या में प्रवेश किया और फिर उन रघुनन्दन श्रीरामजी ने श्रीसीता से अन्य भार्या का वरण नहीं किया और प्रति यज्ञ में पत्नी के भाव में जानकी काञ्चनी हुईं, वाल्मीकि रामायण के इन वचनों से सूचित होता है । तथाहि 'यज्ञे यज्ञे च' यहाँ पर 'च' शब्द अपनी जगह में बिना प्रयोजन के होने से वहाँ से खींच कर काञ्चनी शब्द के बाद जानना चाहिये तब प्रतियज्ञ में पत्नी के लिये जानकी और काञ्चनी हुई । इस प्रकार से अश्वमेध यज्ञ में वावाता परिवित्ति पालिकिनी के स्थान में काञ्चनी जानकी होने पर भी महिषी जानकी के स्थान में काञ्चनी नहीं हुई, क्योंकि वे तो स्वयं वहाँ ही विद्यमान थीं, इस अभिप्राय को स्पष्ट रूप से पहले कह चुके हैं । 'हृदि कृत्वा सदा सीताम्' यह वाक्य 'उरसि मालां कृत्वा' हृदय में माला धारण करने की तरह हृदय में सदा सीता को बहुमान देकर यह अर्थ समझना चाहिये, तस्मात् स्पष्टरूप में संयोग ही सिद्ध होता है इस तरह 'सीताजी के साथ यज्ञ करना' यह रामाश्वमेधीय अर्थ स्पष्ट रूप से सूचित किया ऐसा जानना चाहिये ।

तथोत्तरकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तके 'सीता या विमला साध्वी तव पूर्वपरायणा । नागलोकं सुखं प्राप्ता तवाश्रमतपोबलात्' (वा. उ. स. ९८ श्लो. १४) इत्यत्र टीकायां सीतां स्वावतार कन्दमूलभूतं विग्रहमेव नागलोकगमनव्याजेन प्रवेशयामासेति प्रतिपादितम् । तत्र हि सर्वांशिनी भूतायाः सीताया अन्यांशत्वाभावाद्वाल्मीक्याश्रमस्थायां तात्कालिकावतार कन्दमूलभूतायामेव प्रवेशोज्ञेयः । तथा 'तव पूर्वपरायणा' - इत्यत्र टीकायां तव पूर्वभावप्रवणा तव पूर्वप्रकृतिप्राप्ति समुत्सुकेत्यर्थः । इत्यनेन त्वया सह वासप्राप्तिसमुत्सुकेत्यर्थस्तेन वाल्मीक्याश्रमे सा समुत्कण्ठितैव वर्तत इति ब्रह्मणा द्योतितम्, एवं धरणीवाक्यस्वारस्यमप्यत्रैव दृश्यते, तद्यथा -- उत्तरकाण्डे उदीच्यपुस्तके 'कांक्षसे यच्च वैदेहीं वृथा तेऽत्र परिश्रमः । दुर्लभं दर्शनं तस्यास्त्रैलोक्ये सा प्रतिष्ठिता ।' इति अस्यार्थः - हे राम यदि त्वं वैदेहीं द्रष्टुं कांक्षसे तदा तवात्र परिश्रमो वृथैव 'अनेनात्र मा नास्तीति ध्वनितम् । ततस्तस्या अत्र दर्शनमपि दुर्लभमिति । ननु सात्र नास्ति चेत् क्व गता तत्राह त्रैलोक्ये सा प्रतिष्ठितेति । ननु धरित्रि त्वं तस्या माता भवसि त्वयैव सा प्रसाध्यानीयेति चेत्सा स्वतन्त्रा त्रैलोक्यवर्तिभिर्लोकैः पूज्याचेति मनसि विभाव्य स्वातन्त्र्यादिकं द्योतयति - 'इहस्था पूज्यते नागैर्मर्त्यलोकेतु मानवैः । पितृणां सा स्वधा स्वर्गे सा तृप्तिरमृताशिनाम्। श्रीवत्सवक्षसोदेहे सैव लक्ष्मी प्रतिष्ठिता । सिद्धानां स्वर्गसंस्था सा सा हि सिद्धिः प्रतिष्ठिता । निवर्तय मनो राम वैदेह्या दर्शनं प्रति' (वा. उ. स. ९८) इत्यादि वचनैः ।

माहेश्वरटीका पुस्तक के उत्तरकाण्ड में हे श्रीरामजी ! जो साध्वी पतिव्रता विमला श्रीसीताजी आप की पूर्वपरायणा है वे आप के आश्रम तपोबल से सुख पूर्वक नागलोक को प्राप्त हो गई हैं, यहाँ पर टीका में श्रीसीताजी को अपने अवतार समुदायों के मूलभूत विग्रह को ही नागलोक के गमन के बहाने से प्रवेश कराया ऐसा प्रतिपादन किया । तत्रापि सब की अंशिनीभूता श्रीसीताजी का अन्य किसी के अंश स्वरूपा न होने के कारण से वाल्मीकिजी के आश्रम में रहनेवाली जो कि तात्कालिक अवतारों के समुदायों की मूलभूता थीं उन्हीं में प्रवेश समझना चाहिये । तथा 'तव पूर्वपरायणा' इस पद की व्याख्या में भूषणकार गोविन्दाचार्य ने टीका में 'आपके पूर्वभाव की प्रवणा अर्थात् आपकी पूर्वप्रकृति के प्राप्ति की समुत्सुका हैं' अर्थात् आपके साथ वास करने की प्राप्ति के लिये उत्सुक हो रहीं हैं । इस अर्थ से श्रीब्रह्माजी ने यह द्योतित किया कि वाल्मीकिजी के आश्रम में समुत्कण्ठित ही हैं । एवं पृथिवी के वाक्य का स्वारस्य भी इसी तात्पर्य में दिखाई पड़ता है तद्यथा उदीच्य पुस्तक के उत्तरकाण्ड में यह वाक्य है कि 'कांक्षसे यच्च वैदेहीं' इसका अर्थ यह है कि हे रामजी ! यदि आप श्रीवैदेही को देखना चाहते हैं तो आपका यहाँ परिश्रम व्यर्थ है, इससे यह ध्वनित किया कि वे यहाँ नहीं हैं, इसलिये उनका यहाँ दर्शन भी दुर्लभ है, यदि वह नहीं हैं तो कहाँ गई ? उस पर कहते हैं कि वह त्रैलोक्य में प्रतिष्ठित हैं। यदि कहो कि हे धरित्रि ! आप उनकी माता होती हो आप ही उनको प्रसन्न करके ले आओ ? तो वह स्वतन्त्रा हैं, त्रैलोक्य में रहने वाले जनों से पूजिता हैं ऐसा मन में उद्भावित (विचार) करके उनकी स्वतन्त्रता को द्योतित करती हैं कि नागलोक में स्थित वे नागलोकों से पूजित होती हैं मर्त्यलोक में मानवों से पूजित हैं और पितृलोक में वह स्वधा हैं, स्वर्ग लोक में देवताओं की वह तृप्ति अमृत रूपा हैं और श्रीवत्सवक्षा भगवान के देह में वही लक्ष्मी रूप से प्रतिष्ठिता हैं तथा स्वर्गस्थ वही देवी सिद्धों की सिद्धि रूपा हैं, इसलिये हे श्रीरामजी ! वैदेहीजी के दर्शन के प्रति आप अपने मन को लौटा लीजिये ।' इत्यादि वचनों से पर्वोक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है ।

अत्र 'मर्त्यलोके च मानवैः' इत्यनेन मर्त्यलोकेऽपि तस्या अवस्थानमिति सूचितम् । 'श्रीवत्सवक्षसो देहे सैव लक्ष्मी प्रतिष्ठिता' इत्यत्र श्रीवत्सवक्षसस्तव देहे लक्ष्मीरूपेण नित्यं प्रतिष्ठितैवास्तीत्युक्तम् अतएव ब्रह्मणोक्तम् 'स्मरत्वं पूर्वकं भावम्' (वा. उ. स. ९८ श्लो १२) इति पूर्वको भावोहि श्रीजानक्याः स्वनिकटे सद्भावरूपएव । ननु तस्या दर्शनं विना विरहसन्तापो मम भवति कोऽप्युपायोस्तिचेद्वद तत्राह 'द्रष्टव्या यदि ते सीता पुत्रौ पश्य कुशीलवौ' इति अत्र कुशीलवौ पश्यन्तमपि रामं प्रति कुशीलवौ पश्येत्युक्त्या एतौ पुत्रौ मुख्यौ न भवतः किन्तु तयोरंशभूतावेतौ । अत एवोदीच्य पुस्तके 'इमौच जानकीपुत्रावुभौच यमजातकौ' इत्यत्र चकारद्वयादेवांशांशिभावः स्पष्ट एव । अंशिभूतौ तव पुत्रौ तु वाल्मीक्याश्रमे वर्तेते तावानीय पश्येति द्योतितम् । अग्निवेश्य-रामायणे 'श्रीरामस्य ततः समर्प्य तनयौ सीता प्रविष्टा महीम' इत्यत्र श्रीरामे पुत्रयोः समर्पणमुक्तं, वाल्मीकि रामायणेऽपि 'एवं विनिश्चयं कृत्वा सम्प्रगृह्य कुशीलवौ । तं जनौघं विसृज्याथ कर्मशालामुपागमत्' (वा. उ. स. ९८ श्लो०) इत्युक्तम । श्रीभागवते तु 'मुनौ निक्षिप्य तनयौ

सीता भर्त्रा विवासिता (भा. ९ । ११ ।) इत्यनेन मुनौ तनययोर्निक्षेप उक्तस्तेन वारद्वयं कुशलवयोरागमनं गम्यते । तस्मात्पूर्वमंशयोरागमनं तदुत्तरमंशिनोरागमनं ज्ञेयं तस्यास्तयोः सहचरत्वात्, सीतापीयं पूर्वमागतांशरूपैवास्ति एतस्या विवर प्रवेशः ।

यहाँ पर 'मर्त्य लोक में मनुष्यों से पूजित हैं' ऐसा कहने से मर्त्य लोक में उनका अवस्थान है यह सूचित किया और 'श्रीवत्सवक्षसोदेहे' इस वाक्य से श्रीवत्सवक्षस्थलवाले आप के देह में लक्ष्मीरूप से नित्य प्रतिष्ठिता ही हैं, अतएव श्रीब्रह्मा जी ने कहा है कि 'आप अपने पूर्वभावों का स्मरण करो।' यहाँ पूर्वभाव श्रीजानकीजी का अपने निकट में रहना ही है, यदि कहो कि उनके दर्शन के बिना विरह का जो सन्ताप हमको होता है उसका कोई उपाय है तो कहें ! उस पर कहते हैं कि 'यदि आप सीताजी को देखना चाहते हैं तो कुशीलव को देखो' यहाँ पर कुशीलव को देखते हुए भी श्रीरामजी के प्रति कुशीलव को देखो ऐसा कहने से ये दोनों पुत्र मुख्य पुत्र नहीं हैं । किन्तु उन्हीं दोनों पुत्रों के अंशभूत हैं । अतएव उदीच्य पुस्तक में 'ये दोनों श्रीजानकीजी के पुत्र हैं और दोनों यम जातक हैं' यहाँ पर चकार द्वय के निवेश होने से अंशांशिभाव स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है, अर्थात अंशीभूत दोनों पुत्र आप के श्रीवाल्मीकिजी के आश्रम में वर्तमान हैं, उनको लाकर आप देखो यह द्योतित किया । अग्निवेश्य रामायण में 'श्रीसीताजी अपने पुत्रों का श्रीरामजी को समर्पण करके पृथिवी में प्रवेश कर गईं' यहाँ पर श्रीरामजी को पुत्रों का समर्पण करना कहा गया और वाल्मीकि रामायण में 'ऐसा निश्चय करके और दोनों कुशीलव पुत्रों को ग्रहण कर उस जन समुदाय को विसर्जन करके श्रीरामजी ने कर्मशाला में प्रवेश किया' यह कहा है, तथा श्रीभागवत में 'पति से विवासिता श्रीजानकीजी अपने पुत्रों को मुनि श्रीवाल्मीकिजी में निक्षेप करके' इस वाक्य से मुनि में पुत्रों का निक्षेप करना कहा गया है, अतः सभी ग्रन्थों की एक वाक्यता करते हुए दो बार कुश लव का आना निश्चित होता है । इसलिये पहले अंशभूत कुशीलव का आना हुआ था और बाद को अंशी भूतों का आगमन हुआ ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि श्रीसीताजी का उनके साथ सहचार है । अतः प्रथम जो श्रीसीताजी आईं थीं वह भी अंशरूपा ही थीं, उन्हीं का विवर प्रवेश हुआ ।

उत्तरकाण्डे मरुदेशस्थ पुस्तके - 'कृताञ्जलिश्चाप्र्यगता सीता यज्ञनिवेशनम्' इत्यत्रागतायाः सीताया आगतात्वमुक्तं तदेतदभिप्रायेण यत् आगतेयं मुख्या अंशिनी न भवति किन्त्वंशभूतैव । अतएव स्वावतारकन्दमूलभूतां प्राप्तेति संगच्छते, अंशिरूपा तु वाल्मीक्याश्रम एव वर्तते तयोरानयने तस्या अप्यानयनं सूचितम् । अतएव रामाश्वमेधे - श्रीरामो लक्ष्मणद्वारा कुशीलवाभ्यां सह सीतामानय्य राज्यं चकारेति स्पष्टमुक्तम् । जैमिनिभारते कुशलवाभ्यां सहागतया सीतया सहावस्थितिरुक्ता अत एव नागलोके सुखं प्राप्तेति सीतायाः सुखमुक्तं तदपि संगच्छते उदीच्यपुस्तकपाठे - ततो रामाशुभां वाणीं श्रुत्वा तां वसुधातलादित्यत्र पुनः सीताया मेलनद्योतनेनैव वाण्याः शुभत्वं बोध्यते अन्यथार्थे तु सीताविरहपोषकत्वेनाशुभत्वमेव वक्तमुचितं, सीताया मेलनं विना 'विहृत्य कालं

परिपूर्णमानसाः श्रियावृता धर्मपथे परे स्थिताः त्रयः समिद्धाहुतिदीप्ततेजसो हुताग्नयः साधु महाध्वरे यथा' (वा. उ. स. १०२ श्लो. १७) इत्युदीच्य-पुस्तकवचनेन बोधितो विहारः परिपूर्णमानसत्वं श्रियावृत्तत्वं च न सम्भवति । अत्र श्रीशब्देन तत्तत्पत्न्य उच्यन्ते । यथा भरतादीनां श्रीरामांशत्वमेवं तत्पत्नीनामपि लक्ष्म्यंशत्वम अतः श्रीत्वेन सर्वासां व्यपदेशः माहेश्वर टीकापुस्तकोत्तरकाण्डे- 'अपश्यमानो वैदेहीं मेने शून्यमिदं जगत् । शोकेन परमायस्तो न शान्तिं मनसाऽगमत्' (वा. उ. स. ९९ श्लो. ४) इत्यादौ सीताविरहे जगच्छून्यत्वबोधनेन विहारासम्भवान्मनसः शान्त्यभाव कथनेन परिपूर्णमानसत्वानुपपत्तेश्च मेलनमङ्गीकर्तव्यम् अतः श्रीसीतायामेलन एवास्य रामायणग्रन्थस्य स्वारस्यं ज्ञेयम् ।

मरुदेशस्थपुस्तक के उत्तर काण्ड में 'कृतांजलि होकर आई हुईं श्रीसीताजी यज्ञशाला में गईं, यहाँ पर आईं हुईं श्रीसीताजी को 'आगता' ऐसा जो कहा गया है वह इस अभिप्राय से कि आईं हुईं यह श्रीसीताजी मुख्यांशिनी नहीं हैं किन्तु अंशभूता ही हैं। अतएव अपने अवतार कन्दमूलभूता को प्राप्त हुईं यह सिद्ध होता है । क्योंकि अंशरूपा तो वाल्मीकिजी के आश्रम में ही हैं, उन दोनों कुमारों के लाने पर उनका भी ले आना सूचित किया । अतएव रामाश्वमेध में श्रीरामजी ने श्रीलक्ष्मणजी के द्वारा कुशलवों के सहित श्रीसीताजी को बुलवाकर राज्य किया ऐसा स्पष्ट कहा है और जैमिनि महाभारत में कुशलव के सहित आईं हुईं श्रीसीताजी के साथ अवस्थिति (रहना) कहा है, अतएव 'नागलोक में सुख को प्राप्त हैं' यह जो श्रीसीता जी को सुख कहा है सो भी संगत होता है । तथा उदीच्य पुस्तक के पाठ में 'ततः श्रीसीताजी वसुधातल से शुभ वाणी को सुनकर' यहाँ पर फिर भी श्रीसीताजी के मिलन का द्योतन होने पर ही वाणी की शुभता बोधित होगी, अन्य प्रकार से अर्थ करने पर तो श्रीसीताजी के विरह का पोषक होने से वाणी का अशुभ भाव ही कहना उचित होगा । तथा श्रीसीताजी के संयोग के विना 'विहृत्यकालं' इस उदीच्यपुस्तक के वचन से बताया गया विहार और परिपूर्णमानसता तथा श्री से आवृत्तपना ये सब सम्भव नहीं हो सकेगा । यहाँ पर श्री शब्द से तीनों भाइयों की पत्नियां कही गई हैं जैसे श्रीभरतादि बन्धु श्रीरामजी के अंश हैं, उसी प्रकार से भ्राताओं की पत्नियां श्रीसीताजी की अंशभूता हैं अतः श्रीशब्द से सब का व्यपदेश है । माहेश्वर टीका पुस्तक के उत्तरकाण्ड में श्रीवैदेही को न देखते हुए श्रीरामजी ने इस जगत को शून्य माना और शोक से परम पीड़ित होते हुए मन से शान्ति को नहीं पाये' इत्यादि स्थलों में श्रीसीताजी के विरह में जगतशून्यता का बोधन किया, अतः विहार के न होने से मन को अशान्ति रहेगी तब परिपूर्णमानसता की भी सिद्धि न होगी, अतः दोनों का नित्यसंयोग अंगीकार करना होगा इसलिये श्रीसीताजी के संयोग में ही इस वाल्मीकि रामायण की स्वारस्यता समझना चाहिये ।

तथा च श्रीभागवते नवमस्कन्धे - 'कदाचिल्लोकजिज्ञासुर्गूढो रात्र्यामलक्षितः' (भा. ९-११-८) इत्यनेन कस्मिंश्चित्कल्पे वियोग उक्तः, नतु प्रतिकल्पम् । तस्मिन्नपि कल्पे वियोगमुक्त्वा

तदुत्तरमपि संयोग एव प्रतिपादितः । तद्यथा - राजोवाच 'कथं स भगवान् रामो भ्रातृन् वा स्वयमात्मनः। तस्मिन्वा तेऽन्ववर्तन्त प्रजाः पौराश्च ईश्वरे' (भा. ९-११-२४) इति राजप्रश्नस्यायमभिप्रायः पूर्वं राज्यप्राप्त्युत्तरं सीताविवरप्रवेशश्रीरामयज्ञान्तलीला वर्णिता, तदुत्तरं नैमिषारण्यात् 'आत्मज्योतिरगात् ततः' (भा. ९-११-१९) इत्यनेनायोध्यागमनम् -- तथाहि ततः नैमिषारण्यात् आत्मज्योतिः निजं धामेति टीका । अथ च यज्ञोत्तरं वाल्मीकिरामायणेऽयोध्यायां गमनस्योक्तः, तामगात् प्राप्तः । ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था इत्यभियुक्तोक्तेस्तेनायोध्यायां गमनमुक्तं', तदुत्तरं किं कृतमिति । ततो वादरायण्युत्तरम् 'अथादिशद्दिग्विजये भ्रातृंस्त्रिभुवनेश्वरः । आत्मानं दर्शयन् स्वानां पुरीमैक्षत सानुगः (भा. ९-११-२५) अथायोध्याप्राप्त्यन्तरं पुरीमैक्षतेत्यन्वयः । न च लंकात आगमनान्तरमियं लीला सिंहावलोकनन्यायेनास्त्विति वाच्यम् लीलानन्तर्य वोधकस्याथ-शब्दस्यानुपपत्तेर्लङ्कात आगमनोत्तरं गृहप्रवेशस्य भ्रातृभिः सहितस्य पूर्वमुक्तेः, इह तु दिग्विजय-प्रस्थानोत्तरं केवलं श्रीरामस्य गृहप्रवेशोक्तेश्च । अनेन भ्रातृणां दिग्विजयाज्ञापनं, पुरीनिरीक्षणञ्चेति लीलाद्वयमुक्तम् । 'अथ प्रविष्टः स्वगृहम्' (भा. ९-११-३१) इत्यादिना गृहप्रवेशलीलोत्तरं 'तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया । रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल' (भा. ९-११-३५) इत्यनेन सीताविहारः स्पष्टं प्रतिपादितः

श्रीभागवत के नवम स्कन्ध में 'किसी समय अपने विषय में प्रजा के भाव की जिज्ञासा से छिपकर रात्रि में अलक्षित होकर श्रीरामजी घूमे' इस वाक्य से किसी कल्प में वियोग कहा गया है प्रतिकल्प में नहीं कहा गया है, वियोगकल्प में भी वियोग को कहकर उसके बाद भी संयोग ही प्रतिपादन किया है, वह इस प्रकार से है कि "महाराज परीक्षितजी बोले कि हे शुकदेव जी ! भगवान् श्रीरामजी ने अपने भ्राताओं के प्रति कैसा बर्ताव किया तथा भ्राताओं ने श्रीरामजी के प्रति कैसा बर्ताव किया और प्रजा एवं पुरवासियों ने ईश्वर श्रीरामजी के साथ कैसा बर्ताव किया ?" राजा के इस प्रश्न का यह अभिप्राय है कि राज्यप्राप्ति के बाद श्रीसीताजी का भूविवर प्रवेश और श्रीरामजी की यज्ञान्त तक की लीला वर्णन की, उसके बाद नैमिषारण्य से 'आत्म ज्योति को प्राप्त हुए' इस पद से श्रीअयोध्याजी में आगमन कहा गया, तात्पर्य यह है कि यज्ञ के बाद अयोध्या में आना वाल्मीकि रामायण में प्रतिदन किया गया है, अतः उस में आर, क्योंकि जो गमनार्थक धातु हैं वे सब प्राप्ति अर्थ वाली हैं, अतः 'अगात्' इस क्रिया का अर्थ 'प्राप्त किया' यही होगा, इस से अयोध्या में आना कहा गया, उसक बाद क्या किया ? यह राजा का प्रश्न हुआ । इसका उत्तर बादरायणी श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'बाद को त्रिभुवनेश्वर श्रीरामजी ने दिग्विजय करने के लिये अपने भ्राताओं को आज्ञा दी और अपने जनों को अपनी आत्मा दिखाते हुए सानुग श्रीरामजी ने पुरी को देखा' यहाँ पर 'अथ अयोध्याप्राप्यनन्तरं पुरीं ऐक्षत' ऐसा अन्वय है। यदि कोई कहे कि लंका से आने के बाद का ही इस लीला का सिंहावलोकनन्याय से कही है ? सो नहीं कह सकते, क्योंकि लीलानन्तर्य बोधक अथ शब्द की उपपत्ति नहीं होगी, तथा लंका से आने के बाद भ्राताओं के सहित गृहप्रवेश का पहले ही वर्णन कर चुके हैं और इस श्लोक से भ्राताओं को दिग्विजय की

आज्ञा और पुरी का निरीक्षण इन दो लीलाओं का वर्णन किया गया है । 'इसके बाद अपने घर में प्रवेश किये' इस वाक्य से गृह प्रवेशलीला के बाद' उस गृह में स्वारामाधीरों में श्रेष्ठ भगवान श्रीरामजी ने स्निग्धा इष्टा अपनी प्रिया श्रीसीताजी के साथ विहार किया' इस वाक्य से श्रीसीताजा के साथ विहार स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है ।

'कथं स भगवान् रामो भ्रातृन् वा स्वयमात्मनः' इत्यत्र 'स्वयं' पदेन पूर्वोक्त यज्ञादिलीला अंशद्वारा स्वयं भगवता श्रीरामेण विहारलीला कृतेति बोध्यम् । श्रीजानक्या वाल्मीक्याश्रमादागमनं यज्ञे यथा रामाश्वमेधजैमिनिभारताश्वमेधयोरुक्तं, तथात्रापि दक्षिणादानसमये सूचितं 'तथा राज्यपि वैदेही सौमङ्गल्यावशेषिता' इत्यनेन, तस्मात्सीतया सह यज्ञोपक्रम एवोक्तः, स वाल्मीक्याश्रमविवासोत्तरमेव भवति । अतएव रामाश्वमेध जैमिनिभारताश्वमेधयोः स्पष्टं तथैव प्रतिपादितम्, ननु यज्ञोत्तरं श्रीभागवते 'कदाचिल्लोक जिज्ञासुः' इत्यनेन विवासोपक्रमः प्रतिपादितः स कथं सङ्गच्छते, इति चेदुच्यते कदाचिदित्यादि श्लोक आनन्तर्य्य प्रतिपादकाथादि पदोपादानं नास्ति किन्तु कदाचिदिति पद्मस्ति, तेनेयं लीला यज्ञ करणात्पूर्वमेव जेया यदि विवासनात्पूर्वं यज्ञकरणं स्यात् तर्हि वाल्मीकिरामायणाद्विरोधः स्यात्, तर्हि रावणवधोत्तरं विवासनात्पूर्वं यज्ञकरणमुक्तं नास्ति । तस्माद्यज्ञकरणोत्तरं तया सहायोध्यामागत्य 'रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल' इत्यनेन विहार उक्तः । विरहनिषेधस्तु पञ्चमस्कन्धे 'न स्त्री कृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति' (भा. ५-१९-६) इत्यनेनोक्तः । नवमस्कन्धे तु 'अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः, (भा. ९-११-१७) इत्यत्र अपि संभावनायां नतु तात्विक स्त्रीपुंप्रसंगस्त्रास जनकः, ईश्वर पद स्वारस्यात् । क्लेशकर्माविमृष्टो हि ईश्वरः ।

'कथं स भगवान्' इस श्लोक में स्वयं पद से पूर्वोक्त यज्ञादि लीला अंश के द्वारा हुई और स्वयं तो भगवान् ने विहार लीला की यह समझना चाहिये । श्रीजानकीजी का वाल्मीकिजी के आश्रम से यज्ञ में आना जैसे रामाश्वमेध और जैमिनिभारताश्वमेध में कहा गया है वैसे ही यहाँ वाल्मीकि रामायण में भी यज्ञ में दक्षिणादान देने के समय में सूचित किया है कि 'उसी प्रकार से महारानी वैदेहीजी के पास भी केवल अहिवात द्योतक आभूषणमात्र शेष रह गये' इस वचन से कहा गया है । इसलिये श्रीसीता जी के साथ ही यज्ञ का आरम्भ हुआ यह कहा गया है वह वाल्मीकिजी के आश्रम में निवास के बाद कहा है, अतएव रामाश्वमेध और जैमिनिभारताश्वमेध में स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है । यदि कहो कि यज्ञ के बाद श्रीभागवत में 'कदाचिल्लोक जिज्ञासुः' इस कर के विवासन का उपक्रम किया है वह कैसे संगत होगा ? तो सुनो कदाचित् इत्यादि श्लोक में आनन्तर्य प्रतिपादक अथादि पदों का उपादान नहीं है किन्तु, कदाचित् इस पद का प्रयोग है। इससे यह लीला यज्ञ करने से पहले की ही समझनी चाहिये । यदि विवासन से पहले ही यज्ञ करना कहा है, ऐसा मानोगे तो वाल्मीकि रामायण से विरोध हो जायगा, क्योंकि रामायण में रावणवध के बाद और विवासन से पहले यज्ञ करना नहीं कहा गया है, इसलिये यज्ञ करने के बाद

श्रीसाताजी के साथ अयोध्या में आकर 'रेमे स्वारामधीराणामृषभः' इस वाक्य से श्रीसीताजी के साथ विहार करना कहा गया है, प्रत्युत विरह का निषेध भागवत पञ्चम स्कन्ध में 'स्त्री विरहकृत दुःख को भोग नहीं सकते और न लक्ष्मणजी को त्याग सकते हैं, इस वचन से किया गया है । नवम स्कन्ध में तो जो प्रतिपादन किया है कि 'ईश्वरों को भी विरह दुःख होता है तब गृहासक्त ग्रामीण पुरुष को क्यों नहीं होगा ?' यहां पर अपि शब्द सम्भावना में है, तात्त्विक स्त्री पुरुष का प्रसंग त्रास जनक नहीं है तभी ईश्वर पद की स्वरसता होती है, क्योंकि क्लेश और कर्मों का जिसको स्पर्श न हो उसी को ईश्वर कहते हैं ।

अतो वियोगो लोकदृष्ट्यैवास्तीत्याह - 'तत ऊर्ध्वं ब्रह्मचर्य धारयन्नजुहोत् प्रभुः । त्रयोदशाद्व-साहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम् (भा. ९-११-१८) इति । अस्यार्थः ततो जानक्या विवासोत्तरं ऊर्ध्वमिति जानक्या वाल्मीक्याश्रमे प्रस्थानमारभ्य ऊर्ध्वं उपरि लोकदृष्ट्येति यावत् ब्रह्मचर्यं धारयन अग्रे त्रयोदशेति भिन्नं पदम्, अब्दसाहस्स्रमितिभिन्नंपदं, त्रयोदशेत्यत्राब्दपदमनुकृष्यते तेन त्रयोदशाब्दमखण्डितमग्निहोत्रमजुहोत् । अनेन एतावद्वर्षपर्यन्तमग्निहोत्रकरणमेव तदुत्तरं यज्ञार्थं नैमिषेगमनम । त्रयोदश संख्या-द्वादशवर्षाणि शत्रुघ्नस्य मथुरातोऽयोध्यायामागमने एकं पूर्वं एवं रीत्याज्ञेया । ततोऽब्दसाहस्रमजुहोत् सहस्राणां समूहः साहस्रं, अब्दानां साहस्रमब्दसाहस्रमिति विग्रहः । अनेन दशसहस्रवर्षं यज्ञादि करणं प्रकाश भेदेनावगम्यते तस्मान्नाति वियोग सम्भावनापि । श्रीदशरथेनापि नित्यं समागमोऽयोध्यायामस्ति अतएवोक्तं हरिवंशे 'देवतानां मुनीनां च मनुष्याणां तथैवच । पृथिव्यां समवायोऽभूद्रामे राज्यं प्रशासति' इति एवं लक्ष्मणत्यागोऽपि न वास्तविकः

अतः वियोग लोकदृष्टि से ही है सो कहते हैं कि 'इसके बाद ब्रह्मचर्य को धारण करते हुए प्रभु ने १३००० तेरह हजार वर्ष तक अखण्डित अग्निहोत्र किया' अर्थात् इसका विस्तार में अर्थ इस प्रकार से है कि श्रीजानकीजी के विवासन के बाद ऊर्ध्वं अर्थात् श्रीजानकीजी का वाल्मीकिजी के आश्रम में जब से प्रस्थान हुआ तब से लेकर ऊपर लोकदृष्टि से ब्रह्मचर्य को धारण किये हुए यज्ञ किये, आगे त्रयोदश यह भिन्न पद है और 'अब्दसाहस्र यह भिन्न पद है, त्रयोदश यहां पर सहस्र पद का अनुवर्तन करते हैं, तब यह अर्थ हुआ कि तेरह वर्ष तक अखण्डित अग्निहोत्र किया, इस कथन से इतने वर्ष तक अग्निहोत्र ही करना और उसके बाद यज्ञ करने के लिये नैमिषारण्य में गये । यह तेरह वर्ष की संख्या इस प्रकार से जानना कि अयोध्या से गये हुए शत्रुघ्न को मथुरा से अयोध्या आने में बारह वर्ष हुए और एक पहले ही था इस प्रकार से तेरह वर्ष हुए, उसके बाद वर्ष साहस्र हवन किया, यहाँ पर सहस्रों के समूह को 'साहस्र' कहते हैं वर्षों के साहस्र को 'अब्दसाहस्र' कहते हैं यह विग्रह हुआ । इस से दश हजार वर्ष तक यज्ञादि करना प्रकाशभेद से जाना जाता है । इसलिये अतिवियोग की सम्भावना भी नहीं है श्रीदशरथजी के साथ भी अयोध्याजो में नित्य समागम है अतएव हरिवंश में कहा है कि 'श्रीरामजी के राज्य करते समय में देवता, मुनिगण

और मनुष्यों का पृथिवी पर सदा समवाय मेला रहा।' एवं श्रीलक्ष्मणजी का भी त्याग वास्तविक नहीं हुआ

अथ यदि वियोगोत्तरं संयोगो न स्यात्तदा 'आदि काव्यमिदं राम त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग्राघवादृते ।' (वा. उ. स. ९८ श्लो. १८) इत्युत्तरकाण्डे माहेश्वरटीका पुस्तके सूचितं श्रीरामायणकाव्यस्य रसवर्षित्वं, तत्र सम्भवति, अतः परम रसवर्यस्य शृङ्गाररसस्य समृद्धिमदाख्य सम्भोगे पर्यवसानेन वियोगोत्तरं संयोगः स्वीकर्त्तव्यः । अन्यथा नीरसत्वमेव स्यात् । यथा श्रीरामस्यापि तद्विषयत्वे परमकाव्यरस भाक्त्वहानिरित्यतः संयोग एव सर्वथा स्वीकर्त्तव्यः । किञ्च यदि रामायणे केवलं करुणरसएव स्यात् तदा मधुरसाश्रयाणां तच्छ्रवणे प्रवृत्तिरेव न स्यात् । दृश्यते च शिवसंहितायां मधुररसानुमोदनात्मकरतिमत्वेन प्रतिपादितस्य श्रीमतो हनुमतः श्रीरामायणश्रवणे प्रवृत्तिरधिकमेवास्ति इतिहेतोः पुनर्मेलनमस्तीत्यवगम्यते । एवं श्रीरामायणेपि श्रीरामस्याङ्गानां ज्ञातत्वेन कथनात् श्रीहनुमता शृङ्गारानुमोदनं स्वस्य स्वयं सूचितम् । तत्रैव यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च यानि वै । लक्षितानि विशालाक्षि तानि मे वदतः शृणु (वा. सु. स. ३५ श्लो. ७) इति प्रतिज्ञायाग्र उक्तं । 'त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च' (वा. सु. स. ३५ श्लो. १७) इति नत्र टीकायां त्रयः प्रलम्बा यस्य सः 'प्रलम्बा यस्य स धनी त्रयो भ्रूमुष्कबाहवः' इति सामुद्रिकोक्तेः । मुष्क वृषणः । त्रिसमः त्रीणि केशाग्रादीनि समानि यस्य सः 'केशाग्रं वृषणं जानु समं यस्य स भूपतिः' इत्युक्तेः । त्रिषु च स्निग्धः स्निग्धा भवन्ति वै यस्य पादरेखा शिरोरुहाः । तथा लिङ्गमणिस्तेषां महाभाग्यं विनिर्दिशेत' इति । नवतनुः- नवसु तनुः नव अंगुलिपर्वादीनि तनूनि सूक्ष्माणि यस्य सः सूक्ष्माण्यङ्गुलिपर्वाणि केशलोमनखत्वचः । शेफश्च येषां सूक्ष्माणि ते नरा दीर्घजीविनः' इति । शेफः शिस्नम् । न च हनुमतः शोकस्थायित्वात् शृङ्गारानुमोदनं कादाचित्कमिति वाच्यम्, 'न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हहति' इति हनुमद्वाक्येन तस्य शोक निरासात् । अनेन वियोगनिरासः कृतः । वियोगे सति शोकी भवति स च सर्वथा नास्तीति । एवं श्रीहनुमतः सख्यरसोऽपि प्रसिद्धः 'न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः । तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्येवत लक्ष्मणाग्रजः' (भा. ५-१९-७) इति श्रीमतो हनुमतो वाक्यात् दासोऽहं कौशलेन्द्रस्यैति वाक्यैर्दास्यरसोऽपि सिद्धः ।

इति श्री गालवाश्रम गाद्यधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्रीमधुराचार्यकृते श्रीरामतत्वप्रकाशे लवकुशयुद्धसन्देह समाधानादिवर्णनं नाम द्वादशोल्लासः ॥१०॥

यदि वियोग के बाद संयोग नहीं होता तो 'हे रामजी ! यह आदिकाव्य सम्पूर्ण रामायणजी आप में प्रतिष्ठित है । श्रीराघव को छोड़कर अन्य कोई भी काव्यों के यश का भागी नहीं हो सकता है,' यह माहेश्वरटीका के उत्तरकाण्ड में श्रीरामायण काव्य का रसवर्षित्व सूचित किया है सो नहीं हो सकेगा । अतः परमरसों में श्रेष्ठ जो शृङ्गाररस है उसका समृद्धिमदाख्यसम्भोग में पर्यवसान हो जाने से वियोगोत्तर संयोग अवश्य स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा स्वीकार करने से नीरसता हो जायगी तथा श्रीरामजी की भी तद्विषयता होने पर परम काव्य रसभाग्यता नष्ट हो जायगी। अतः सर्वदा संयोग ही स्वीकार करना चाहिये । यदि रामायण में केवल करुणारस ही माना जाय तो मधुर रस का आश्रयण करने वाले श्रृंगारियों की उसके श्रवण करने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी । परन्तु देखने में तो उनकी अधिक प्रीति ही आती है क्योंकि श्रीशिवसंहिता में मधुर रस का अनुमोदनात्मरति विशिष्टितया प्रतिपादन किये गये हनुमानजी की श्रीरामायण श्रवण करने में प्रवृत्ति अधिक ही है इत्यादि सभी हेतुओं से वियोग के बाद भी संयोग हुआ यह निश्चित सिद्धान्त स्वीकार करना ही चाहिये । एवं श्रीरामायण में भी श्रीरामजी के अंगों को हनुमानजी भलीभाँति जानते हैं ऐसा कथन मिलता है श्रीहनुमानजी ने श्रृंगार का अनुमोदन स्वयं किया है जब श्रीजानकी जी ने हनुमानजी से श्रीरामजी के लक्षणों को पूछा तो श्रीहनुमानजी ने कहा कि 'हे विशालाक्षि ! श्रीसीताजी ! मैंने श्रीरामजी के और श्रीलक्ष्मणजी के जिन चिह्नों को देखा है उनको मैं आपसे कहता हूं, आप उनको सुनें ? ऐसी प्रतिज्ञा करके 'त्रिस्थिरस्त्रिप्रलम्बश्च, इत्यादि श्लोकों द्वारा प्रतिपादन किया, जिनका अर्थ टीका में इस प्रकार से किया है - जिनके तीन लम्बे हैं अर्थात् सामुद्रिक में लिखा है कि भौंहे, वृषण और भुजा जिसके लम्बे होवे वह धनी होता है। त्रिसम - जिनके तीन सम हैं, अर्थात् केशाग्र, वृषण और जानु जिसके सम हों वह भूमि का स्वामी होता है ऐसा सामुद्रिक का प्रमाण है । तीन स्थानों में स्निग्ध हैं अर्थात् जिसकी पादरेखा केश और लिङ्ग का अग्रभाग स्निग्ध हो उसको महाभाग्यशाली कहना चाहिये । नवतनुः - जिसके अंगुलिपोरुआ आदि नव अंग सूक्ष्म होवे अर्थात् अंगुलियों के पोरुआ, केश, रोम, नख, त्वचा, श्मश्रु, लिंग, बुद्धि और दांत जिनके सूक्ष्म होवें वे नर दीर्घजीवी होते हैं। यदि कहो कि जब श्रीरामजी शोक में स्थित थे तब भी जो हनुमानजी ने श्रृंगार का अनुमोदन किया है वह कादाचित्क है अर्थात् हनुमानजी ने कदाचित् कभी किसी तरह से अगों को देख लिया होगा, तो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि भागवत के पञ्चमस्कन्धीय 'न स्त्रीकृतं' इस श्रीहनुमानजी के वाक्य से श्रीरामजी के शोक का निराश किया है, इस वाक्य से वियोग का भी निराश किया गया । वियोग होने पर पुरुष शोकवाला होता है वह श्रीरामजी में सर्वथा ही नहीं है । एवं श्रीहनुमानजी का सख्यरस भी प्रसिद्ध है क्योंकि श्रीभागवत में हनुमानजी ने कहा है कि 'निश्चय करके उस परमात्मा के तोष का हेतु महज्जन्म, सौभाग्य, वाणी, बुद्धि और आकृति नहीं हैं क्योंकि इन सब से हीन वन में रहने वाले हम सब वानरों को श्रीलक्ष्मणाग्रज श्रीरामजी ने सखा बना लिया' इस हनुमानजी के वाक्य से ही निश्चय होता है, तथा 'कोशलेन्द्र श्रीरामजी के हम दास हैं' इत्यादि वाल्मीकीय सुन्दरकाण्ड के बयालीसवें सर्ग के चौंतीसवें श्लोक से आपका दास्यरस भी सिद्ध होता है।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेन श्रीअखिलेश्वरदासेन कृतायामुद्योताभिध भाषाटीकायां द्वादशोल्लासः ॥१२॥

त्रयोदशोल्लासः

अथ श्रीभगवल्लीलाया नित्यत्वादिसाधनं श्रीमद्रामानुजाचार्य श्रीमद्रामानन्दाचार्य श्रीवल्लभाचार्य रूपगोस्वामि प्रभृतिभिर्विस्तरशः प्रतिपादितमस्ति, तल्लेशमात्रमत्र दिक्प्रदर्शनार्थं विरुद्धबुद्धिभ्रान्ति विनाशाय निरूप्यते-सा हि लीला द्विविधा तात्विकी अतात्विकी च । तत्र तात्विकी चिच्छक्तिरूपा नित्या नित्यधामसु विराजते यथा 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्तितत्वतः । त्यक्त्वादेहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन' (भ. गी. ४।९) इत्यादिना प्रतिपादिता । अतात्विकी च मायाशक्ति कार्यरूपा असुर व्यामोहिका यथा प्रभासे यादवानामन्तर्द्धानप्रत्यायनरूपा, यथा च श्रीरामायणे भृगुशापेन सीताविरहव्याधि व्याकुल श्रीरामस्य बहुवर्षपर्यन्तस्थितिरूपा ।

अब आचार्यजी लीला में नित्यत्व प्रदर्शन के लिये तेरहवें उल्लास का आरम्भ करते हैं - श्रीभगवान की लीलाओं की नित्यता का श्रीरामानुजाचार्य जी, श्रीरामान्दाचार्यजी श्रीवल्लभाचार्य जी, रूपगोस्वामीजी प्रभृति महापुरुषों ने विस्तार से प्रतिपादन किया है, उसका लेशमात्र यहाँ प्रकार 'दिखाने के लिये और विरुद्धबुद्धि वालों की भ्रान्ति को हटाने के लिये निरूपण करता हूँ । वह लीला दो प्रकार की होती है, एक तात्विकी और दूसरी अतात्विकी है, उस में तात्विकी लीला चैतन्यशक्ति रूपा है, नित्या है, नित्यधामों में सुशोभित है, जैसे भगवान ने गीता में 'हमारा जन्म और कर्म दिव्य है ऐसा जो यथार्थ रूप से जानता है वह देह को त्यागकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता है किन्तु हे अर्जुन ! वह हमको प्राप्त हो जाता है' इत्यादि श्लोकों से प्रतिपादन किया है। अतात्विकी लीला मायाशक्ति की कार्यरुपा है, असुरों को व्योमोहन करनेवाली है, जैसे प्रभास क्षेत्र में यादवों के लिए भगवान के अन्तर्ध्यान का विश्वास कराने वाली और जैसे श्रीरामायणजी में भृगुजी के शाप से श्रीसीताजी के विरह रूपी व्याधि से व्याकुल हुए श्रीरामजी को वहुत वर्षपर्यंत स्थिति कराने वाली, अर्थात् वास्तव में न तो कृष्ण भगवान् अन्तर्ध्यान भये और न श्रीरामजी को श्रीसीताजी का वियोग ही हो सकता है किन्तु अतात्विकी लीला होने से जगत् को आपने ऐसा दिखाया ।

ननु यथा पूर्वोक्ता जन्म कर्मादिलीला तात्विकी, तथेयमपि कथं न स्यात्, यत इयमपि श्रीभागवत श्रीरामायण ग्रन्थेषु बहुशोवर्णिता वर्तते इति चेदुच्यते, प्रभास प्रस्थान प्रकरणे दारुकं प्रति श्रीकृष्णेन तथा विदुरं प्रत्युद्धवेन तल्लीलाया मायिकत्व कथनात् । एवमुद्धववाक्य तृतीये 'देवस्य मायया स्पृष्टा ये चान्यदसदाश्रिताः । भ्राम्यते धीर्न तद्वाक्यैरात्मन्युप्तात्मनो हरौ (भा. ३।२-१०) इति । एवं 'न विहातुमियं शक्या' (वा. उ. स.) इति रामायण वचनेन श्रीरामलीलायामपि बोध्यम् तल्लीलायाश्चनित्यत्वश्रवणात् नहि श्रीरामं प्रति भृगुशापः सम्भवति, अस्तु वा असुरावेशादेव भृगोः शापः, नहि

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमीशस्य नित्यं नराकारब्रह्मभूतस्यायोध्यायां सीतया सह सदा विराजमानस्य भृगोः शापेन नरदेहप्राप्तिः, तथा नित्यनिखिलशक्तिकदम्वसम्बलितस्य स्वरूपशक्तिसारभूतया सीतया सह भृगुशापेन वियोगश्च । तथात्वे बहुशास्त्रविरोधः स्यात्तस्मादसुरमोहनार्थमेव सा लीला भगवता प्रत्यायितेति मन्तव्या । तत्र सीतया विरहाभावस्तु पूर्वं प्रतिपादित एव यथा सरयूगमनोत्तरान्यथा प्रत्यायनरूपा लीला । यद्यपि श्रीकृष्णस्य प्रभासप्रस्थानसिद्धान्तेन श्रीरामकृष्णयोः पूर्णत्वेन तुल्यत्वादुभयोरप्येक जातीय लीलाकर्तृत्वेन च सिद्धान्तितमस्त्येव तथाप्यसुरबुद्धिग्रस्तान् विजातीयानन्यथा ज्ञाननिराशाय कानिचित् सुयुक्तिकप्रमाणानि लिख्यन्ते ।

शंका करते हैं कि जैसे पूर्वोक्त जन्मकर्मादिलीला तात्विकी है उसी प्रकार से यह लीला भी तात्विकी क्यों नहीं होगी क्योंकि - यह लीला भी भागवत, वाल्मीकिरामायणादिग्रन्थों में बहुत विस्तार से वर्णित है, तो इसका समाधान यह है कि प्रभास के प्रस्थान प्रकरण में दारुक नामक अपने सारथि से कृष्ण भगवान् ने तथा विदुरजी के प्रति उद्धवजी ने उस लीला की मायिकता का कथन किया है, एवं तृतीयस्कन्ध के श्रीउद्धवजी के वाक्य मे यह कहा गया है कि 'जो देव की माया से स्पृष्ट (गृहीत) है और जो भगवान् से अतिरिक्त असत् का आश्रयण किये है उन्हीं की बुद्धि भ्रमित होती है किन्तु जिन्होंने अपनी आत्मा को परमात्मा में आरोपित कर दिया है उनकी बुद्धि उन वाक्यों से भ्रमित नहीं होती है।' ऐसे ही 'इनको मैं त्याग नहीं सकता' रामायण में श्रीरामजी के इस वचन से श्रीरामजी की लीलाओं में समझना चाहिये, क्योंकि उनकी लीलाओं में नित्यता का सर्वत्र श्रवण है । श्रीरामजी के प्रति भृगु का शाप हो ही नहीं सकता अथवा यदि भृगु का शाप है तो असुरावेश से ही भृगुजी ने शाप दिया । तथा कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं समर्थ नित्य नराकारब्रह्मभूत, अयोध्याजी में श्रीसीताजी के साथ सदा विराजमान श्रीरामजी को भृगुजी के शाप से नरदेह की प्राप्ति नहीं है और न नित्यसम्पूर्णशक्तिसमुदाय से परिपूर्ण श्रीरामजी की स्वरूपशक्ति सारभूता श्रीसीता से भृगुशाप द्वारा वियोग ही हो सकता है, यदि ऐसा मान लिया जायगा तो बहुत से शास्त्रों से विरोध हो जायगा । इसलिये असुरों को मोहन करने के लिये ही उस लीला को भगवान ने दिखलाया ऐसा मानना चाहिये । उसमें श्रीसीताजी के साथ विरह का न होना तो पहले प्रतिपादन ही कर दिया है । इसी प्रकार से सरयूगमन के बाद की अन्यथारूप से प्रतीयमान लीला भी समझना चाहिये । यद्यपि श्रीकृष्णजी की प्रभास प्रस्थान के सिद्धान्त से और श्रीरामजी एवं श्रीकृष्णजी दोनों की पूर्णता से तुल्यता होने पर दोनों की एकजातीय लीलाओं का करना सिद्धान्तित है तथापि असुर बुद्धिग्रस्त जातियों के अन्यथा ज्ञान के नाश के लिये सुन्दर सुयुक्तियुक्त कुछ प्रमाणों का संग्रह करते हैं ।

पञ्चमे - 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्य शिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः । कुतोन्यथा स्याद्रमतः स्वआत्मनः सीतानिमित्त व्यसनानीश्वरस्य ॥ न वै स आत्माऽत्मवतां सुहृत्तमः सक्तस्त्रिलोक्यां भगवान् वासुदेवः । न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि

विहातुमर्हति' (भा. ५-१९-५,६) अनयोर्व्याख्या च विभोः श्रीरामस्य अवतारो न केवलं रावणवधार्थं, किन्तु 'स्मरँस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः । स्त्रीपुंप्रसंग एतादृक् सर्वत्रैवभयावहः । अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः' (भा. ९-११-१७) इति रीत्या लोक शिक्षार्थमपीत्यर्थः, यतो रावणवधे प्रवृत्तिः सीताविरहजन्यदुःखेनेति प्रसिद्धिः । तत्र सीता विरहो नास्तीति पूर्वंप्रतिपादित मेव । यदि रावणवधार्थमेवावतारोऽभविष्यत्तदा सीता विरहोऽभविष्यत् । वस्तुतस्तु विरहो नास्तीति प्रतिपादयति कुतोऽन्यथेत्यादिना - अन्यथा स्वे स्वीग्रे आत्मनि श्रीजानक्याख्ये रमतः (श्रुतावपिजायाया आत्मनोऽर्द्धत्वं प्रतिपादितम् श्रीरामायणे किष्किन्धाकाण्डे श्रीरामं प्रति तारावाक्ये आत्मत्वं प्रतिपादितम्, श्रीभागवतेपि कपोत प्रसङ्ग उक्तः) न सीताकृतानि व्यसनानि तस्येति कुतः स्यात् । आत्मन इति पाठेतु स्वे स्वीये जने जानक्यां रमतः, जानक्या सह कदाचिद्विरहोपि न स्यादत आत्मन इति विशेषणं, आत्मनः जानक्यात्मन इत्यर्थः नहि जानक्या स्वात्मना विरहः सम्भवतीति भावः । ननु रावणेन सीताहृतेति तत्कथं सीता विरहो नास्तीत्यत आह ईश्वरस्येति नहि योगमायाधीश्वरस्य भगवतः स्वरूपशक्तेः सारभूतां सीता रावणो द्रष्टुर्मर्हतीति आस्तां तावद्धरणवार्तापि । अतएव मायिक्येव सीता रावणेन हृतेति कूर्मपुराणादिषु प्रतिपादितम् । अत्रापि तथैव ज्ञेयम् ।

पंचम स्कन्ध में 'आपका मर्त्यावतार तो मनुष्यों को शिक्षा देने के लिये हुआ है केवल राक्षसों के वध करने के लिये नहीं, क्योंकि स्वकीय में रमण करनेवाले विभु को श्रीसीता विरह से जायमान दुःख कैसे हो सकता है, आत्मावालों के सुहृत्तम आत्मा जो त्रैलोक्य में कहीं आसक्त नहीं है एवं भगवान् वासुदेव हैं, वे सीता विरहकृत दुःख अनुभोग नहीं कर सकते और न श्रीलक्ष्मणजी को ही त्याग सकते हैं।' इन दोनों श्लोकों की व्याख्या ग्रन्थकार ने भी इस प्रकार से की है कि - विभु व्यापक श्रीरामजी का अवतार केवल रावण के वध के लिये नहीं है किन्तु 'श्रीजानकीजी के उन-उन गुणों का स्मरण करते हुए अपनी आत्मा को रोकने में श्रीरामजी समर्थ नहीं हुए' इससे यह शिक्षा दिये कि स्त्री पुरुषों का संग ऐसा ही है कि ईश्वरों को भी सर्वत्र भय उत्पन्न करता है, फिर जो ग्रामीण गृहासक्त चित्त हैं उनका तो कहना ही क्या है' इत्यादि वचनों से शिक्षा के लिये ही है, क्योंकि श्रीरामजी की रावण के वध में जो प्रवृत्ति है सो श्रीसीताजी के विरजन्य दुखः से है ऐसी लोक की प्रसिद्धि भी है । परन्तु यथार्थ सीता विरह नहीं है, यह पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं । यदि रावण वध के लिये ही अवतार होता तो श्री सीता जी का विरह होता, वस्तुतस्तु विरह है ही नहीं इस बात को कुतोन्यथादि वचन द्वारा प्रतिपादन करते हैं अन्यथा अपनी श्रीजानकी रूप आत्मा में रमण करनेवाले (श्रुतियों में स्त्री आत्मा का अर्धाङ्ग होती है ऐसा प्रतिपादन किया है, श्रीरामायण किष्किन्धाकाण्ड में भी श्रीरामजी के प्रति तारा वाक्य में स्त्री को आत्मतया प्रतिपादन किया है और श्री भागवत में भी कपोत प्रसंग में कहा है) श्रीरामजी को श्रीसीता विरह कृत व्यसन नहीं हैं और न किसी प्रकार से हो ही सकता है, 'आत्मनः' ऐसा पाठ मानने पर स्वकीय जन जो श्री जानकीजी हैं उनमें रमण करनेवाले श्रीरामजी का श्रीजानकीजी के साथ कभी भी विरह नहीं

हो सकता, अतः 'आत्मनः' यह विशेषण दिया है उसका अर्थ है कि आत्मनः अर्थात् जानकीरूप आत्मा से तात्पर्य यह है कि जानकीरूप आत्मा से विरह की सम्भावना ही नहीं है, यदि कहो कि रावण ने तो श्रीसीताजी का ही हरण किया था फिर उनके साथ विरह क्यों नहीं हुआ ? इस पर कहते हैं कि 'ईश्वरस्य' अर्थात् योगमाया के अधीश्वर भगवान् श्रीरामजी की स्वरूपशक्ति की सारभूता श्रीसीताजी को रावण देख भी नहीं सकता था हरण करने की तो बात ही कैसे हो सकती है ? अतएव मायिकी सीता को ही रावण ने हरण किया था ऐसा कूर्म पुराणादिकों में प्रतिपादन किया गया है, वैसा ही यहाँ पर भी समझना चाहिये ।

अतएव यो लक्ष्मणः श्रीरामेण परित्यक्तः स साक्षाल्लक्ष्मणो न भवतीत्युभयं प्रतिपादयति - न वै स आत्मात्मवतामित्यादिना, स भगवान त्रिलोक्यामासक्तो न भवतीति यतो न देवतानां प्रीतये केवलं रावणवधार्थमेवावतार इति वक्तव्यं, किन्तु लोकशिक्षार्थमेवेति पूर्वरीत्या ज्ञेयम् । ननु त्रिलोक्यामनाशक्तः सीतायामपि अनासक्तो भवतीति चेत्तत्राह - आत्मवतां सुहृत्तम इति श्रीरामचन्द्ररूप एव आत्मा येषां श्रीजानक्यादिस्वरूपाणां सुहृत्तम अतिशयेन सुहृदित्यर्थः, तथा च जानक्यादीनां श्रीराम आत्मा, अतो यथा प्रियतम आत्मा आत्मवतां सुहृत्तम इति भावः । तथा श्रीरामोपि अतः परमसुहृत्तमत्वादेव स्त्रीकृतं कश्मलं नाश्नुवीत, पूर्वमेव रावणाद्वह्निरूपेण रक्षणं चकारेति कूर्मपुराणोक्तार्थव्याख्यानेन स्पष्टीकृतम् । अतः पूर्वहेतोरेव लक्ष्मणमपि त्यक्तुं नार्हतीति निर्दिष्टम् । चकारात्सीतामपि वाल्मीक्याश्रमे न त्यक्तुर्मर्हतीति । अस्मिन्नर्थे 'भास्करेण प्रभा यथा' इत्यादिना अविनाभावसम्बन्धद्योतकानि वाल्मीकिरामायणवचनान्युक्तान्येव ।

अतएव जिन श्रीलक्ष्मणजी को श्रीरामजी न त्यागा था वे साक्षात् लक्ष्मणजी नहीं थे, इन दोनों बातों का 'न वै स भगवान्' इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादन करते हैं अर्थात् वह भगवान श्रीरामजी त्रिलोकी में आसक्त नहीं थे क्योंकि देवताओं की प्रसन्नता के लिये ही केवल रावण के वध करने के लिये अवतीर्ण नहीं हुए थे किन्तु, लोक के शिक्षण के लिये ही अवतीर्ण हुए थे, यह पूर्व रीति से समझना चाहिये । यदि कहो कि जब श्रीरामजी त्रिलोक में आसक्त नहीं थे तो श्रीसीताजी में भी आसक्त नहीं होंगे ? इस पर उत्तर करते हैं 'आत्मवतां सुहृत्तमः' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी का रूप ही जिनकी आत्मा है ऐसी जो श्रीजानकीजी आदि, उनके अतिशय सुहृत हैं, इससे श्रीजानकी आदि के श्रीरामजी ही आत्मा हैं, अतः जैसे आत्मा प्रियतम होता है वैसे ही आत्मवालों के सुहृत्तम श्रीराम जी हैं यह भाव है, अतः परम सुहृत्तम होने से ही स्त्रीकृत दुःख को भोग नहीं सकते हैं पहले ही रावण से बचाने के लिये वह्निरूप से श्रीजानकीजी की रक्षा की, यह बात कूर्मपुराण में कथित व्याख्यान से स्पष्टीकरण किया जा चुका है । अतः पूर्व हेतु से ही लक्ष्मणजी को त्याग नहीं सकते यह निर्दिष्ट हुआ । चकार से श्रीसीताजी को भी वाल्मीकि जी के आश्रम में त्याग नहीं सकते हैं यह अर्थ होता है । इस अर्थ में 'भास्कर के जैसे प्रभा अभिन्न है' इत्यादि वचनों से अविनाभावसम्बन्धद्योतक वाल्मीकिरामायण के प्रमाण कहे जा चुके हैं।

ननु रावणहरणस्यावास्तविकत्वच्छ्री रामविलापस्यापि तथात्वाच्छ्रवणेन सहृदयानां करुणाख्यो रसो मा भूयादिति चेत्तत्राच्यते - 'प्रेम्णो हि विवेकहारिणी प्रकृतिः' इति प्रेमवतो विवेकलोपात् तच्छ्रवणमात्रेण रसो जायत एवेति । ननु सा लीला मायिकीति कुतोनोक्तेति चेदुच्यते - लोकशिक्षार्थं, गूढ़ार्थस्तु जन्मादिलालावद्भक्तरसपोषक इति सर्वमनवद्यम् । तथाऽसुरमोहनार्थं या या लीलाः श्रीभगवता कृतास्तास्ता विषयासक्तानां जनानां वैराग्य शिक्षणार्थमित्युक्तं नवमे 'रक्षोऽधमेन वृकवद् विपिनेऽसमक्षं वैदेहराजदुहितर्यपयापितायाम् । भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तस्स्त्रीसंगीनां गतिमिति प्रथयॅश्चचार' (भा. ९-१०-११) इति तत्रैवैकादशाध्याये विवरप्रवेशव्याजोत्तरं 'तच्छ्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः । स्मरॅंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्ना शक्नोद्रोद्धमीश्वरः । स्त्रीपुंप्रसंग एतादृक् सर्वत्रैव भयावहः । अपीश्वराणां किमुत ग्राम्यस्य गृहचेतसः (भा. ९-११-१६।१७) इत्येतैर्वाक्यैर्लोकशिक्षार्थमेव लीलेति स्पष्टीकृतम् । अत्र भूविवरप्रवेशलीलाः प्रत्यक्षत्वेऽपि श्रुत्वेत्यनेन केवल लोकप्रतीतिविषयत्वेनावास्तवत्वं द्योतितम्, अन्यथा तु दृष्ट्त्येवावक्ष्यत् । तस्माद्वियोगादिलीला आपाततो विरुद्धमनियमनाय श्रीरामेण प्रत्यायिता साऽसुराणां व्यामोहार्थं, विषयासक्तानां वैराग्यार्थं भक्तानां करुणरसपोषार्थमिति सिद्धम् । अन्यथा बालकाण्डादौ धैर्यवत्वादयो गुणाउक्तास्ते बाधिताः स्युस्तेषां श्रुतिरूपत्वेन प्राबल्यात् । एतादृशकथाया एव तात्पर्यान्तरं कल्पयितुमुचितम् । अतएव श्री भागवते 'रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल' (भा. ९-११-३५) इत्यनेन धीराणां मध्ये ऋषभत्वमुक्त्वा 'न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणं चापि विहातुमर्हति' इत्यनेन सीतात्यागस्य लक्ष्मणत्यागस्य च निषेध उक्तः त्यागस्य वास्तविकत्वे तत्कृतविलापस्य वास्तविकत्वे च धीरत्वं व्याहन्येत ।

यदि कहो कि रावण द्वारा किया गया हरण वास्तविक नहीं है अतः श्रीरामजी का विलाप भी वास्तविक नहीं है तब तो उस लीला के सुनने से सहृदय पुरुषों में करुणा का संचार नहीं होगा ? सो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि 'प्रेम का यह स्वभाव है कि वह विवेक का हरण कर लेता है' इसलिये प्रेमी जनों को विवेक का लोप हो जाने से उस लीला के सुनने से करुणा रस उत्पन हो जाता है। पुनः कहते हैं कि वह लीला मायिकी है ऐसा स्पष्ट क्यों नहीं कहा ? तो उसका उत्तर यह है कि मायिकी कह देते तो लोक शिक्षण नहीं होता, अतः मायिकी नहीं कहा । गूढ़ अभिप्राय तो यह है कि जैसे जन्मादि लीला भक्ति रस पोषिका है उसी प्रकार से यह लीला भी भक्तिरसपोषिका है, इस में कोई दोष नहीं है । तथा असुरों को मोहन करने के लिये भगवान ने जो-जो लीलायें की हैं वे सब लीलायें विषयासक्त जनों को वैराग्य की शिक्षा देने के लिये हैं ऐसा भागवत के नवम स्कन्ध में 'राक्षसों में अधम रावण ने जङ्गल में आपके न रहने पर मिथिलेश कुमारी को जब भेड़िया की तरह चुराकर अपहरण कर लिया तब लक्ष्मणजी के सहित आपने प्रिया से वियुक्त हो जाने पर जो कृपण की तरह विलाप किया सो स्त्रीसंगियों की गति को प्रसिद्ध करने के लिये ही किया' उसी जगह एकादशाध्याय में विवरप्रवेशव्याज के बाद 'तच्छुत्व।' इत्यादिद्वाक्यों से

लोक शिक्षार्थ ही यह लीला हुई यह स्पष्टी करण किया है । यहाँ पर भूविवरप्रवेशलीला प्रत्यक्ष होने पर भी 'श्रुत्वा' इस पद से केवल लोक को दिखाने मात्र के लिये ही यह लीला है वास्तविक नहीं है ऐसा द्योतित किया, अन्यथा 'दृष्ट्वा' ऐसा ही कहते । इसलिये वियोगादि की जो लीला है वे विरुद्ध मति के संयम करने के लिये श्रीरामजी ने दिखाई और वे लीलाएँ असुरों को मोहन करने के लिये, विषयासक्तों को वैराग्योत्पादन के लिये और भक्तों का करुणा रस पुष्ट करने के लिये ही हैं, ऐसा सिद्ध हुआ । अन्यथा बालकाण्ड आदि में धैर्यत्वादि जो गुण कहे गये हैं वे सब बाधित हो जायेंगे, क्योंकि उनकी श्रुतिरूप होने से प्रबलता है, ऐसी कथाओं का ऐसा ही तात्पर्य समझना उचित है । अतएव श्रीभागवत में 'रेमे स्वारामधीराणां' इस वाक्य से धीरों के मध्य में परम श्रेष्ठता को कहकर 'न स्त्रीकृतं' इस वाक्य से श्रीसीता जी का त्याग और श्रीलक्ष्मण जी के त्याग का निषेध कहा है, क्योंकि त्याग को वास्तविक मानने से और श्रीरामजी के किये हुए विलाप को वास्तविक मानने से उनकी धीरता का व्याघात (विनाश) हो जायगा ।

ननु भगवताऽसुरव्यामोहार्थं यद्यप्येतादृशी लीला कृता तथापि वाल्मीकिना विस्तरेण रामायणे किमर्थमुपनिबद्धा, नहि रामायण श्रावणेन कोप्यसुरव्यामोहः कर्त्तव्योऽस्ति । अतो विस्तरेणोय निबन्धः किमर्थमिति चेदुच्यते - विस्तरेण वाल्मीकिना करुणारसो वर्णितः मोहादिकं च साधारणजीववद्वर्णितं तद्भक्तमहिमप्रख्यापनार्थं - यद्भगवानेतादृशो भक्तवत्सलो भक्तवाक्यसत्यकरणार्थं स्वयं तादृशमोहं शोकञ्च ह्यङ्गीकरोति । वाल्मीकिना व्याधभ्रान्त्या शापोदत्तः 'मानिषाद प्रतिष्ठांत्वम्' (वा. बा. स. २. श्लो. १५) इति श्लोकव्याख्यायां टीकाकारैः प्रतिपादितः । भृगुणा च शापोदत्तः स भगवता भक्तार्थं स्वयमङ्गीकृतः । प्राकृत जनवन्मोहकरणमपिभक्तार्थमेव । लिङ्गपुराणेऽम्बरीषाय नारदेन तमः प्रहितं तन्नारद्वाक्यानुरोधेनाम्बरीषरक्षणानुरोधेन च भगवता स्वयमङ्गीकृतम् - इदं तमो भक्तस्यलग्नं स्यात्तदाभक्तस्यैतादृशं दुःखमुत्पन्नंस्यादिति प्रदर्शनार्थं तादृशचेष्टया प्रदर्शनम् । अत इयं लीला भक्त महिमस्थापनार्थं भक्तवात्सल्यार्थं च ज्ञेया ।

अब शंका करते हैं कि यद्यपि भगवान् ने असुरों के मोहन के लिये इस प्रकार की लीला की है तथापि महर्षि वाल्मीकि जी ने विस्तार से रामायण में क्यों लिखी है, क्योंकि रामायण को सुनाकर के किसी असुर को मोह प्राप्त तो कराना नहीं है ? तो इसका उत्तर यह है कि वाल्मीकिजी ने विस्तार से करुणा रस का वर्णन किया है और मोहादिक तो साधारण जीवों की भाँति वर्णन किया है, वह भी भक्तों की महिमा को प्रसिद्ध करने के लिये ही । भगवान ऐसे भक्तवत्सल हैं जो भक्तों के वाक्य को सत्य करने के लिये अपने आप वैसे मोह और शोक को स्वीकार कर लेते हैं । महर्षिवाल्मीकिजी ने व्याध की भ्रान्ति से भगवान् को शाप, दे दिया यह बात 'मा निषाद' इस श्लोक की व्याख्या में गोविन्दाचार्य आदि टीकाकारों ने प्रतिपादन किया है। भृगुजी ने भी शाप दिया उसको भगवान् ने भक्त के लिये स्वयं अंगीकार कर लिया, साधारण मनुष्य की भाँति मोह करना भी भक्तों के लिये ही है ।लिङ्गपुराण में अम्बरीष के लिये नारदजी ने तम (अज्ञान) भेजा,

उसको नारद जी के वाक्य सत्य करने के लिये और अम्बरीष के रक्षण के अनुरोध से भगवान् ने स्वयं अंगीकार किया । 'यह तम (अज्ञान) यदि भक्त को लग जायगा तो भक्त को बहुत दुःख होगा ! ऐसा विचार कर वैसी चेष्टाओं का प्रदर्शन आपने स्वयं ही किया । अतः यह लीला भक्तों की महिमा स्थापन करने के लिये और भक्तवात्सल्य के लिये हैं ऐसा समझना चाहिये ।

किञ्च भगवता स्वस्मिन्नपयशोऽप्यङ्गीकृत्य' बालिवधः कृतः सोऽपि सुग्रीवार्थं, यतः सुग्रीवस्य ताराप्राप्तिर्वालिवधमन्तरा न सिद्ध्यति बालि वधस्तु प्रत्यक्ष्यं न भवति, दर्शने जाते सोपि प्रवणः स्यादतो निलीय बालिवधं कृत्वा मनोरथसिद्धिः कृता । किञ्च ताराया आगमने स्वयमेव पूर्वं सम्मुखतया गतवान् सुग्रीवः पृष्ठभागे स्थापितः, यदि सुग्रीवोऽग्रे गतः स्यात्तर्हि स एव शप्तः स्यात्, अतो भक्तवत्सलेन भगवता स्वयमेव ताराशापोऽङ्गीकृतः । यथा भारतयुद्धोत्तरं श्रीकृष्णेन प्रथमत

टिप्पणी - जैसे माता बालक की भलाई के लिये कड़वे औषध स्वयं खाकर दूधमुँहे बच्चों का दुःख छुड़ाती है, वैसे ही प्रभु पर सर्वथा निर्भर शरणागत भक्तों के लिये अवतार धारणकर उनके शापादि स्वयं स्वीकार कर प्रभु भक्तों को निर्दोष बना देते हैं । यथार्थतः वे सर्वथा निर्लेप ही रहते हैं । उनकी लीलायें भक्तवत्सलता के वशीभूत लोक शिक्षणार्थ ही होती है ।

एवं गान्धारीशापः स्वयमङ्गीकृतः । पाण्डवा रक्षितास्तद्वदत्रापि ज्ञेयम् । माया सीता तिरस्कारोऽपि लक्ष्मण तिरस्कारस्तया कृतस्तदर्थमेव । अत एवोक्तमध्यात्म रामायणे - मामेवं भाषसे चण्डिधिकृत्वां नाशमुपैष्यसि' इति सीतां प्रति लक्ष्मणवाक्यम् । श्रीवल्लभाचार्येण पुरुषोत्तम सहस्रनाम्नि सीता वियोगनाट्यश्चेत्यनेन सीतावियोगो नाट्यमात्रं न वास्तव इति स्पष्टत एव सूचितम् माया सीता हरणोत्तरं विलापस्तु प्रेमवैचित्र्यवशादेव । यथा दशमे द्वारकायां जल विहारे श्रीकृष्ण प्रेयसीनां 'कुररि विलपसित्वम्' (भा. १०-९०-१५) इत्यादौ प्रतिपादितः न च वाच्यं सुदूरगमनाभावात् समृद्धिमदाख्यः सम्भोगो न सम्भवतीति । सोऽपि प्रेमपराकाष्टया भवति । यदुक्तं श्रीदासगोस्वामिभिः 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां भावकाष्टामहं पराम् । विना वियोगं संयोगं या तुर्यं प्रतिपादयेत् ।' संयोगेषुतुर्य समृद्धिमत्संयोगम् । लक्ष्मणादीनां सीताया अदर्शनं

टिप्पणी - अध्यात्म रामायण - लिङ्गपुराण आदि ग्रन्थ सैद्धान्तिक मतभेद होने से वैष्णवों में मान्य नहीं हैं फिर भी सारग्राही सन्त जनों के तरल श्रद्धालु हृदय अपने प्रभु की लीला सर्वत्र से सादर ग्रहण कर लेते हैं यही ग्रन्थकार ने व्यक्त किया है, बालादपि सुभाषितम् ।

तु श्रीरामतेजः प्रविष्टत्वात्, यथासूर्यनेजसि प्रविष्टानां तारकादीनाम् एवं सपरिकरस्य श्री रामस्य विष्ण्वादिदेवतासु प्रवेशस्तु 'परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातः' इति श्रीकृष्णलीलोक्तरीत्या सपरिकरे श्रीरामे प्रविष्टाया विष्णवादिदेवतास्तासां पुनः स्वस्वधाम गमनमेव, रामोऽयं विष्णौ प्रविष्टो लक्ष्मणोऽयं शेषे प्रविष्ट एवं रीत्या परोक्षवादा मुनयः 'परोक्षं च मम प्रियम्' इति लीला रहस्य रक्षार्थं वर्णितं ज्ञेयम् ।

किंच भगवान ने अपने में अपयश को स्वीकार करके बालि का वध किया वह भी सुग्रीव जी के लिये ही किया क्योंकि सुग्रीव जी को तारा की प्राप्ति बालि के वध के विना नहीं हो सकती थी और बालि का वध प्रत्यक्ष में नहीं हो सकता था क्योंकि दर्शन हो जाने पर वह भी सुग्रीव की तरह प्रवण (अनुकूल) हो जायगा । इसीलिये छिप कर बालिवध करके सुग्रीव के मनोरथ की सिद्धि की, बालि के मर जाने के बाद तारा के आने पर स्वयं श्रीराम जी ही सन्मुख गये, सुग्रीव जी को पृष्ठभाग में स्थापित किए । यदि सुग्रीव जी आगे होते तो उन्हीं को शाप होता । अतः भक्तवत्सल भगवान श्रीरामजी ने स्वयं ही तारा के शाप को अंगीकार किया, जैसे महाभारत के युद्ध के बाद श्रीकृष्ण भगवान ने पहले ही से गान्धारी के शाप को स्वयं अंगीकार कर लिया था वैसे ही यहां पर भी समझना चाहिये । मायामयी श्रीसीताजी का भी जो तिरस्कार है सो भी इसलिये है कि माया सीता ने लक्ष्मण जी का तिरस्कार किया था, अतएव उनका भी तिरस्कार किया । अध्यात्म रामायण में कहा है कि 'हे चण्डि ! तुम हमसे ऐसा कहती हो, धिक्कार है तुमको, तुम नाश को प्राप्त हो जाओगी' ऐसा सीताजी के प्रति लक्ष्मण जी का वचन है । श्रीवल्लभाचार्य जी ने पुरुषोत्तम सहस्त्रनाम में 'सीता वियोगनाट्यश्च' ऐसा एक नाम लिखा है इससे श्रीसीतावियोग नाटकमात्र है, वास्तव में नहीं है, ऐसा स्पष्ट रूप से सूचित किया । मायासीता के हरण के बाद जो विलाप पाया जाता है वह तो प्रेम की विचित्रता से है जैसे दशम स्कन्ध में जल विहार में श्रीकृष्णभगवान् की प्रियतमाओं ने 'कुररि विलपसित्वं' इत्यादि वाक्यों से प्रेयस श्रीकृष्ण के पास में रहते हुए भी प्रेम विचित्रतावश विलाप किया है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है, वैसे ही यहाँ पर भी समझना चाहिये । यदि कहो कि सुदूर गमन के विना समृद्धिमदाख्यसम्भोग नहीं बन सकेगा, सो नहीं कह सकते क्योंकि वह समृद्धिमदाख्यसम्भोग पराकाष्टा से ही होता है, जैसा श्रीदासगोस्वामीजी ने कहा भी है कि 'नन्दव्रज की स्त्रियों की पराभावकाष्ठा की मैं वन्दना करता हूँ, जो भावकाष्टा वियोग के विना ही चौथे संयोग को प्रतिपादन करती हैं। संयोगों में चतुर्थ संयोग समृद्धिमदाख्य संयोग है। (संयोग संभोग चार प्रकार के हैं -१. संक्षिप्त २. संकीर्ण ३. संपन्न ४. समृद्धिमान् सब इसमें ही परि समाप्त हैं) श्रीलक्ष्मणादि भ्राता और श्रीसीताजी का अदर्शन देखने में आता है सो तो इसलिये कि वे श्रीरामजी के तेज में प्रविष्ट हो गये थे, जैसे सूर्य के तेज में प्रविष्ट हुए तारागणों का दर्शन नहीं होता है उसी प्रकार उनका दर्शन नहीं भया । एवं जो परिकरों के सहित श्रीरामजी का विष्णु आदि देवताओं में प्रवेश कहा गया है सो तो 'अजन्मा परावरेश भगवान् महत् अंशों से युक्त होकर प्रकट हुए' इस भागवतोक्त श्रीकृष्णलीलोक्त प्रकार से सपरिकर श्रीरामजी में प्रविष्ट हुए जो विष्णु आदि देवता थे उनका ही पुनः अपने-अपने धाम में गमन हुआ, जैसे यह श्रीरामजी विष्णु

में प्रविष्ट हो गये, एवं लक्ष्मण शेष में प्रविष्ट हो गये, इस रीति से परोक्षवाद मुनियों ने किया है, क्योंकि 'परोक्ष मेरा प्रिय होता है' अतः लीला रहस्य की रक्षा के लिये ऐसा वर्णन किया गया है, यही समझना चाहिये ।

वस्तुतस्तु नहि सर्वांशांशिमुकुटमणिभूतस्य श्रीरामचन्द्रस्य कारणार्णवशायिन्यऽपि कलारूपे विष्णौ प्रवेशो युज्यते । तथात्वे सर्वशास्त्रेषु नित्यत्वेन प्रतिपादिताया भगवतोलीलाया अनित्यत्वप्रसङ्गः स्यात्, महासङ्कर्षणत्वाकारकारणार्णवशायिनस्तदवतारिणो लक्ष्मणस्य 'वैकुण्ठेऽपि यथा शेषो नारदः सनकादयः' इत्यादिभिः, स्कान्देऽयोध्यामाहात्म्ये सहस्रधारातीर्थमाहात्म्ये 'भवन्मूर्तिः समायातः शेषोपि विलसत्पुरा' इत्यनेन लक्ष्मणस्य कलात्वेन निरूपिते शेषे प्रवेशोऽनभिज्ञानां बुद्धिकक्षामारूढिं क्षमते । तस्मात् सपरिकरः श्रीरामस्तु स्वधामसु सदैव विराजमानो वर्तते, न कुत्रापि प्रवेशो न क्वापि गमनमपि । अतएवोत्तरकाण्डे 'इमेहि सर्वे स्नेहान्मामनुयाता मनस्विनः । भक्ताहि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते । तच्छ्रुत्वा विष्णुवचनं ब्रह्मालोकगुरुः प्रभुः । लोकान् सान्तानिकान्नाम यास्यन्तीमे समागताः । यच्चतिर्यग्गतं किञ्चित् त्वामेवमनुचिन्तयन् । प्राणाँस्त्यक्ष्यति भक्त्याचेत् सन्तानेषु निवत्स्यति' (वा. उ. स. ११० श्लो. १७-१९) इत्यनेन सन्तानवृक्षादिमण्डित सरयूतीरस्थ लोकेष्वशोकवनिकादिषु तेषामवस्थितिरुक्ता । कोशलखण्डेपि 'श्रीसीतारामौ सदा सान्तानिककुञ्जे वर्तते ।' इति पूर्वमुक्तम् ।

वस्तुतः तो सब अंश और अंशियों के मुकुटमणिभूत श्रीरामचन्द्रजी का कारण समुद्र में शयन करनेवाले कलारूप विष्णु में प्रवेश भी युक्त नहीं है, यदि ऐसा मान लिया जायगा तो सर्व शास्त्रों में नित्यतया प्रतिपादन की गई भगवान की लीला के अनित्यत्व का प्रसंग हो जायगा, महासंकर्षणाकार कारणसमुद्र में शयन करने वाले जो शेष हैं उनके अवतारी श्रीलक्ष्मण जी 'वैकुण्ठ में भी जैसे शेष नारद सनकादि है' इत्यादि और स्कन्दपुराणोक्त अयोध्यामाहात्म्य के सहस्राधरातीर्थ माहात्म्य में 'आपकी मूर्ति शेषजी भी आये हैं और सामने सुशोभित हो रहे है' इस वाक्य से लक्ष्मणजी के कलारूप कहे गये शेष में प्रवेश लक्ष्मणजी का हुआ यह कहना अज्ञानियों की बुद्धि में आरूढ हो सकता है, ज्ञानी जन तो ऐसा नहीं मानेंगे । इसलिये परिकरों के सहित श्रीरामजी तो अपने में सदा विराजमान रहते हैं, न कहीं प्रवेश करते हैं और न कहीं जाते हैं अतएव उत्तरकाण्ड में 'ये सब मनस्वी जो स्नेह परवश हमारे साथ पीछे आये हैं ये मेरे भक्त हैं, भजन करने योग्य हैं क्योंकि मेरे लिये इन्होंने अपने आत्मा को त्यागा है, जो ये आये हुए है ये सब सान्तानिक नामक लोक को जायेंगे और जो तिर्यग्योनिगत भी कोई प्राणी होगा वह आप का चिन्तवन करता हुआ प्राणों का परित्याग करेगा तो वह भक्ति से सान्तानिक लोकों में वास करेगा' इन वाक्यों से सन्तानवृक्षों से मण्डित सरयू के किनारे पर स्थित लोकों में अशोकवाटिका में

उनकी स्थिति कही गई । कोशलखण्ड में 'श्रीसीतारामजी सदा सान्तानिक वन की कुञ्ज में वास करते हैं, ऐसा पहले ही कहा जा चुका है।

श्रीरामतापिन्यामपि प्राकट्य समये सीता साहित्यमुक्तम् । तथा च तत्रोक्तश्रुतेरर्थः 'विश्व-व्यापी राघवः श्रीरामचन्द्रस्तदानीं शंखचक्रे गदाब्जे धृत्वा रमा सहितः संवृतः सानुजः सर्वलोकी चान्तर्दधे' इति । तच्चान्तर्द्धानं सन्तान वन एव, सान्तानिकाः सन्तानवृक्षयुक्तानित्यर्थः । सरयूतीरस्थितलोकानां सन्तानादियुक्तत्वं श्रीरामायण उत्तरकाण्डेऽशोकवनिकावर्णने 'शोभितां पारिजातैश्च विधूमज्वलनप्रभैः । लोध्रनीपार्जुनैर्नागैः सप्तपर्णातिमुक्तकैः । मन्दारकदलीगुल्मलता जालसमावृताम् । 'तथैव तरुभिर्दिव्यैः' (वा. उ. स. ४२ श्लो. ३-४-७) इत्यादिभिः । अत्र पूर्वं मन्दार उक्तः, अग्रे 'तथैव तरुभिर्दिव्यैः' इत्यत्र तथा शब्दाद् दिव्याः सन्तान कल्पवृक्षादयो गृह्यन्तेऽगस्त्यसंहितायांप्रसिद्धाः । तथाचागस्त्यसंहितायां सरयू वर्णने 'सन्तानकालागरुदाडिमी' इति तत्रैव 'पश्चिमे दिङ्मुखे तस्य तत्प्रमाणात्तथा पुनः । सन्तानः शोभते वृक्षः सन्तानफलदायकः' इति । अशोकवनिकायां सन्तानादिवृक्षयुक्तत्वे प्रमाणं तु सुन्दरकाण्डेऽशोकवनिका वर्णने 'तस्याश्चाप्यनुरूपेयमशोकवनिकाशुभा । शुभा या पार्थिवेन्द्रस्य पत्नी रामस्य सम्मता । यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना । आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलामिति ।' अस्यार्थः या शुभा पार्थिवेन्द्रस्य सम्मता अशोकवनिका तस्या इयं शुभा अशोक वनिका अनुरूपा तद्वदित्यर्थः । पत्नी रामस्य सम्मता यदि जीवति सादेवीत्यत्रान्वेतीति । तस्यामशोकवनिकायां सन्तानलतादिकं वर्णितमस्ति 'सन्तानकलताभिश्च पादपैरुपशोभिताम् । दिव्यगन्धरसोपेतां सर्वतः समलङ्कृताम्' (वा.सु.१५ श्लो. २) इत्यादिना तस्मात्तत्सादृश्येन अस्याप्यशोकवनिकायां सन्तानलतादिकमस्तीति ज्ञेयम् ।

श्रीरामतापिनी उपनिषद में भी प्राकट्य के समय में श्रीसीता जी के सहित वर्णन है, तथा च वहाँ कही गई 'विश्वव्यापी राघवो' (रामतापिनी ९३) इस श्रुति का अर्थ यह है कि विश्वव्यापी श्रीरामचन्द्र जी उस समय शंख-चक्र-गदा-कमल को धारण करके रमाजी के सहित अनुजों से युक्त और सबसे घिरे हुए सर्वलोकों में रहने वाले अन्तर्द्धान हो गये' और वह अन्तर्द्धान सन्तान वन में ही हुआ, सान्तानिक अर्थात् सन्तान वृक्षों से युक्त श्रीसरयू जी के तीर में स्थितलोकों की सान्तानिक संज्ञा है यह बात श्रीरामायण के उत्तरकाण्ड में अशोकवाटिका के वर्णन में कही गयी है, धूम रहित अग्नि ज्वाला की प्रभा के समान पारिजात लोध्र, नीप, अर्जुन, नागवृक्ष, सप्तपर्ण, अतिमुक्तक आदिवृक्षों से सुशोभित है और मन्दार कदली, गुल्म, लता जालों से घिरी हुई है, उसी प्रकार से दिव्य वृक्षों से सुशोभिता है ।' यहाँ पर पहले मन्दार कहा गया और आगे 'तथैव तरुभिर्दिव्यैः' में तथा शब्द से अगस्त्यसंहिता में प्रसिद्ध दिव्य सन्तान कल्पवृक्ष आदि ग्रहण किये जाते हैं, तथा च अगस्त्य संहिता में सरयूजी के वर्णन में 'सन्तान-कालागरु-दाडिमी' ऐसा वर्णन

करके उसी स्थल पर 'उसकी पश्चिम दिशा में वैसा ही सन्तान वृक्ष सुशोभित है जो सन्तान फल को देने वाला है। अशोक वाटिका में सन्तान आदि के वृक्ष हैं इसमें प्रमाण तो सुन्दरकाण्ड में अशोक वाटिका के वर्णन में हैं कि 'उसके अनुरूपा यह शुभा अशोक वनिका है जैसी शुभा पार्थिवेन्द्र श्रीरामजी की सुन्दर अशोक वनिका है । श्रीराम जी की सम्मता पत्नी चन्द्रमुखी श्रीसीतादेवी जी यदि जीती हैं तो शीतल जलवाली इस वाटिका में अवश्य आवेंगी, इसका अर्थ मूल में भी वर्णन किया गया है कि जो शुभा पार्थिवेन्द्र की सम्मता अशोकवनिका है उसी तरह यह भी शुभा अशोकवनिका अनुरूपा है अर्थात् अयोध्यास्थ अशोक वनिका के सदृश है 'श्रीराम जी की सम्मता पत्नी सीताजी यदि जीतीं हैं ऐसा अन्वित कर अर्थ करना । लंकास्थ अशोकवाटिका में सन्तानलता आदि का वर्णन है कि वह अशोकवनिका सन्तानकलताओं से और दिव्य वृक्षों से उपशोभित है, दिव्य गन्ध रस से युक्त है, सब तरफ से अलंकृत है । इसलिये उसके सादृश्य से अयोध्यास्थ अशोकवनिका मे भी सन्तानलतादिक है ऐसा समझना चाहिये ।

सर्ववृक्षेषु सत्सु ब्रह्मणा सन्तान वृक्षेण तद्देशनिर्णयः कृतः सतु गोप्रतारे स्थितस्य ब्रह्मणः पश्चिमदिक्स्थस्य सन्तानस्य पूर्वमुपस्थितत्त्वादेव गोप्रतारमयोध्यायाः पश्चिमायां दिश्यस्ति । तस्मात् सान्तानिकलोका नामायोध्यास्था परन्त्वप्रकटरूपा एव । किञ्च प्रजाभिः प्रार्थना कृता 'यत्र त्वया स्वर्गे वा वने वा गन्तव्यं तत्रास्माभिः सहैव गन्तव्यम् इति ततः श्रीरामेण तथेति प्रतिज्ञातम् । अतो यत्र श्रीरामेण गमनं कृतं तत्रैव तेषामपि गमनमुचितं तल्लोकस्त्वयोध्यैव । पद्मपुराणेपि 'प्रययौ शाश्वतं दिव्यं स्व पदं राघवो विभुः' इति स्व पदं अयोध्यैव । अतएव स्कान्दायोध्यामाहात्म्ये स्वर्गद्वारमुद्दिश्य 'चतुर्द्धा तु तनुं कृत्वा देवदेवो हरिः स्वयम् । अत्रैव रमते नित्यं भ्रातृभिः सह राघवः ।' इत्यत्र नित्यपदोपादानान्नान्यत्र गमनं किन्तु सर्वदात्रैव विद्यमानत्वम् । लोकनामपि सहैव गमनम् - 'सर्वैः परिवृतः श्रीमान् रामो नारायणोऽव्ययः ।' इत्यनेन तेषां विष्णवादीनामेव स्व-स्व धाम गमनं बोध्यम् । तथा मौशललीलायां श्रीकृष्णस्य महानुभावैर्निरूपितम् । एवं देहत्यागोऽपि न, दृष्टान्तेन श्रीकृष्णपरिकराणामिव श्रीरामपरिकराणामपि बोध्यम् । एतदुत्तरमयोध्याराज्यं कुशेन कृतं, तत्र प्रमाणं श्रीरामायणे काश्मीर पुस्तकस्थपाठे- 'अयोध्या नगरी रम्या शून्या वर्षगणानि च । भविता तु कुशं प्राप्य निवेश्यमुपलप्स्यते (वा. उ. स. १११ श्लो. १०) इति । यत्र 'ऋषभं प्राप्य' इति पाठस्तस्यापि कुशपरत्वेनैव व्याख्यानम्, यत ऋषभः ज्येष्ठः स च कुश एवेति ।

इति श्रीगालवाश्रमगाद्यधिपति मधुररसाचार्य श्री १००८ श्रीमधुराचार्यकृते श्रीरामतत्वप्रकाशे लीलानित्यत्वादिप्रमाणप्रदर्शनं नाम त्रयोदशोल्लासः ॥१३॥

सब वृक्षों के रहते हुए भी ब्रह्माजी ने सन्तान वृक्ष से निर्देश कर उसी देश का निर्णय किया और गोप्रतार (गुप्तारघाट) में स्थित श्रीब्रह्मा जी के पश्चिम दिशा में स्थित सन्तान लोक के पहले ही उपस्थित होने से गोप्रतार श्रीअयोध्याजी से पश्चिम दिशा में है, इसलिये सान्तानिक लोक श्रीअयोध्या में ही स्थित है। किन्तु, प्रकट नहीं है और समस्त प्रजा ने आपसे प्रार्थना भी की थी कि 'आप स्वर्ग अथवा वन में कही भी जांए वहाँ हम सब भी साथ ही चलेगें' तब श्रीरामजी ने 'तथास्तु' ऐसा ही हो ॥, ऐसी प्रतिज्ञा भी कर दी थी । अतः, जहाँ श्रीरामजी ने गमन किया वहीं पर उनका जाना भी उचित है, एवं सान्तानिक लोक तो श्रीअयोध्याजी ही है। पद्मपुराण में भी 'व्यापक श्रीराघव जी दिव्य शाश्वत अपने पद को गये' ऐसा कहा है यहाँ 'स्वपद' शब्द से श्रीअयोध्याजी का ही ग्रहण है। अतएव स्कन्दपुराणोक्त श्रीअयोध्या माहात्म्य में स्वर्गद्वार का उद्देश्य करके 'देवदेव-स्वयंहरि-भगवान श्रीराघवजी अपना तनु चार प्रकार से करके भ्राताओं के सहित इस स्वर्गद्वार में ही नित्य रमण करते हैं' ऐसा कहा है यहाँ पर नित्य पद के उपादान से दूसरी जगह जाना नहीं होता किन्तु सर्वदा यहाँ ही वर्तमान रहते हैं, यह सिद्धान्त हुआ । एवं समस्त अयोध्यावासियों का आप के साथ ही जाना लिखा है 'अव्यय नारायण भगवान् श्रीरामजी सब से परिवृत होकर आये' इससे विष्णु आदिकों का ही अपने-अपने धाम में यात्रा करना समझना चाहिये । तथा मूसललीला में श्रीकृष्ण भगवान् के विषय में भी महानुभावों ने ऐसा ही निरूपण किया है । एवं देह का परित्याग भी नहीं है, दृष्टान्त से श्रीकृष्णजी के परिकरों की तरह श्रीरामजी के परिकरों को भी समझना चाहिये । इसके बाद भी अयोध्याजी का राज्य श्री कुशजी ने किया । इस विषय में काश्मीरदेशस्थ श्रीवाल्मीकिरामायण के उत्तरकाण्ड का यह श्लोक प्रमाण है कि 'रमणिका श्रीअयोध्या नगरी बहुत वर्षों तक शून्य रहेगी फिर श्रीकुशजी को प्राप्त कर पुनः निवेश को प्राप्त हो जायगी । कहीं-कहीं पर 'कुशजी की जगह 'ऋषभं' ऐसा पाठ है उसका भी कुश परक ही व्याख्यान करना चाहिये, क्योंकि ऋषभ नाम ज्येष्ठ का है और दोनों भाइयों में ज्येष्ठ श्रीकुशजी ही हैं इति ।

इति श्रीरामतत्वप्रकाशे श्रीमदनन्तशास्त्रपारङ्गत जगदुद्धारक जगद्गुरु स्वामि पं० श्रीरामवल्लभाशरणाश्रितेन श्रीअखिलेश्वरदासेन कृतायां उद्योताभिधभाषाटीकायां त्रयोदशोल्लासः ॥१३॥